



भारतीय आर्य

कौन-कहाके-कबसे-कैसे ?

लेखक एवं समीक्षक

उपाध्याय कनकनन्दी जी

प्रकाशक

धर्म-दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन

जयपुर, बड़ौत, मुजफ्फरनगर

धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन ग्रथांक-68

भारतीय आर्य-कौन-कहां के-कब से-कैसे?

लेखक एवं समीक्षक	:	उपाध्याय कनकनन्दी
सहयोगी	:	मुनि श्री विद्यानन्दी जी, मुनि श्री गुप्तिनन्दी जी, आर्थिका राज श्री, आर्थिका क्षमा श्री
संपादक मण्डल	:	श्री प्रभात कुमार जैन (एम.एस.सी. रसायन प्रवक्ता) मुजफ्फरनगर। श्री रघुवीर सिंह जैन (एम.एस.सी.एल.बी.) मुजफ्फर नगर। श्री सुशील चन्द्र जैन (एम.एस.सी. भौतिकी) बड़ौत।
मन्त्री	:	श्री गुणपाल जैन (मुजफ्फर नगर)
प्रकाशन संयोजन	:	श्री नेमी चन्द्र काला, जयपुर
ज्ञानदानी	:	धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन
सर्वाधिकार	:	सुरक्षित लेखकाधीन
प्रथम संस्करण	:	1994
मूल्य	:	स्वाध्याय, ज्ञान प्रचारार्थ सहयोग राशि (₹ 25.00)
प्रतियाँ	:	1101
प्रकाशन एवं प्राप्ति	:	1. धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन बड़ौत (U.P.) 2. नव अल्पना प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, मोदीखाना, जयपुर-3 (राजस्थान)
स्थान	:	
मुद्रण कार्य	:	नव अल्पना प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, मोदीखाना जयपुर-3 (राजस्थान)

इसे पढ़े आगे बढ़ें

मैंने विद्यार्थी जीवन में ही स्कूल के इतिहास की किताब में पढ़ा था कि “भारत में जो आर्य लोग हैं वे पशुपालन के लिए चारण भूमि के अन्वेषण के लिए घूमते-2 सिन्धु आदि पंच नदी को पार करके पंजाब होते हुए भारत में प्रवेश किये, उसके पहले इस देश में आर्यत्तर (द्रविड़, असम्य, म्लेच्छ) लोग इस भारत में रहते थे। दोनों में युद्ध हुआ और इस युद्ध में आर्य लोग विजयी हुए क्योंकि आर्य लोग ज्ञान-विज्ञान से युक्त थे और अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में दक्ष थे। इसलिये वे परास्त होकर उत्तर भारत को छोड़कर दक्षिण भारत में चले गये। धीरे-2 आर्य लोग भारत में फैलकर यहां के ही रथायी निवासी होकर यहां रहने लगे। ”अतएव भारत में रहने वाले आर्य विदेशी एवं आक्रमणकारी हैं”, ऐसा वर्णन प्रायः हर इतिहास की किताब में पहले से लेकर अभी तक पाया जाता है। इसमें न अभी तक कोई शोध हुआ, न कोई बोध हुआ, न कोई दिशा परिवर्तन हुआ।

मैं बाल्यकाल के विद्यार्थी जीवन से ही तर्कशील, अन्वेषण प्रेमी, वैज्ञानिक बुद्धि सम्पन्न एवं सत्यग्राही रहा हूँ। मैं विद्यार्थी जीवन से ही कोर्स की किताब के राथ-2 धार्मिक, दार्शनिक एवं शोधपूर्ण साहित्यों का अध्ययन करता आ रहा हूँ। जब मेरा अध्ययन धीरे-2 विभिन्न क्षेत्र में होने लगा तो मैंने पाया कि स्कूल, कॉलेज की पुस्तकों में विभिन्न प्रकार की गलतियाँ एवं भान्तियाँ हैं। मैं एक सत्यग्राही एवं निर्भय व्यक्ति होने के कारण मैंने उन गलतियों को एवं भान्तियों को मेरे उपदेश में, कक्षा में एवं शिविरों में एवं मेरी शोधपूर्ण अनेक पुस्तकों में सप्रमाण निरसन किया हूँ। उदाहरण के लिए:- वैज्ञानिक डार्विन एवं महावैज्ञानिक आइन्स्टीन के कुछ सिद्धान्तों का खण्डन मेरी “विश्व विज्ञान रहस्य” में किया है। शकुन्तला एवं दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम पर

इस देश का नाम भारत पड़ा है, इसका खण्डन मैंने मेरी पुस्तक 'ऋषभपुत्र भरत से भारत' में किया है। आधुनिक परमाणु वस्तुतः परमाणु नहीं है, परन्तु अनेक परमाणुओं की समीक्षा है, ऐसा सप्रमाण वर्णन मैंने मेरी पुस्तक 'विश्व विज्ञान रहस्य', 'स्वतंत्रता के सूत्र', 'धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पुष्प-3' में किया है। अति प्राचीन भारत में आधुनिक विज्ञान से भी कुछ क्षेत्र में अधिक उन्नतशील विज्ञान था, इसका सप्रमाण वर्णन मैंने मेरी पुस्तक 'धर्म दर्शन विज्ञान' में किया है। मेरी 'विश्व इतिहास' पुस्तक में मैंने सिद्ध किया कि वर्तमान आधुनिक इतिहास के विद्वान जो मानते हैं एवं लिखते हैं वह अपूर्ण एवं भ्रान्ति पूर्ण हैं। यह सब कार्य करने के बाद एवं उसमें बहुत कुछ सफलता मिलने के बाद मैंने विचार किया कि जो इतिहास की महति भूल 'भारतीय आर्य बाहर से आये हैं' इसके विपरीत मैं इस पुस्तक में प्रायः डेढ़ दो हजार वर्ष से भी प्राचीन जैन तथा हिन्दुओं के प्राचीन अनेक साहित्यों के आधार पर मैं यह सिद्ध करूँगा कि भारतीय आर्य भारत के ही हैं वे बाहर से नहीं आये हैं।

'भारतीय-आर्य बाहर से आये हैं' ऐसा वर्णन करके विदेशियों ने भारतीयों के मन में एक दीन भावना पैदा की है। वे यह सिद्ध करना चाहते होंगे कि भारतीयों के पूर्वज असभ्य थे एवं इनकी कोई अच्छी परम्परा, विरासत, सम्यता, संस्कृति नहीं हैं और सचमुच कुछ भारतीय लोग भी इस हीन भावना से ग्रसित हुए हैं और स्वयं को सचमुच विदेशियों से विशेषकर अंग्रेजों से दीन-हीन मानते हैं। ऐसी परिस्थिति तो शेर के बच्चे की परिस्थिति के बराबर है। एक किवदंती है कि एक बार एक शेर का बच्चा रास्ता भूल कर भेड़ों के झुण्ड में जाकर मिल गया और भेड़ों के समान ही खाने-पीने तथा बोलने लगा। कुछ दिन के बाद एक शेर ने उस झुण्ड में रहने वाले उस शेर के बच्चे को देखा। वह विचार करने लगा कि यह हमारी जाति का है परन्तु यह भेड़ों के मध्य कैसे रह रहा है? वह जाकर उस शेर के बच्चे से बोला अरे! तुम तो शेर के बच्चे हो फिर भी भेड़ों के झुण्ड में क्यों रह रहे हो। वह शेर का बच्चा भय से बोला-नहीं, नहीं मैं शेर का बच्चा नहीं हूँ मैं तो

भेड़ का बच्चा हूँ, शेर तो हम लोगों को खा लेता है, शेर तो बहुत बलवान होता है। हम तो घास-फूस खाने वाले दीन-हीन भेड़े हैं। उसकी यह बात सुन कर बड़ा शेर विचार करता है कि यह मेरे जैसा शेर होते हुए भी इसके मन में ये दीन-हीन भावना किस प्रकार आ गई। वह सोचने लगा यह सब संस्कार व संगति का फल है, कुसंगति एवं कुसंस्कार में रहकर वह स्वयं को भूल गया है। उसने उस शेर के बच्चे को सम्बोधित करते हुए कहा कि 'तुम मेरे साथ जलाशय में चलो तब मैं तुम्हें बता दूँगा कि तुम कौन हो?' दोनों एक स्वच्छ जलाशय में जाते हैं और दोनों अपना प्रतिबिम्ब जलाशय में देखते हैं। शेर का बच्चा जब देखता है कि मेरा प्रतिबिम्ब व शेर का प्रतिबिम्ब एक सा है तब वह शेर का बच्चा सोचता है कि मैं भेड़ नहीं हूँ, मैं तो शेर हूँ। तब वह भेड़ों को छोड़कर शेरों के साथ चला जाता है तथा भेड़ों के व्यवहार को छोड़कर शेरों के जैसे व्यवहार करने लगता है तथा मिमियाना छोड़कर शेर की तरह गर्जना करने लगता है। इसी प्रकार कुछ भारतीय आर्य हैं जो स्वयं के स्वाभिमान, आत्मगौरव, राष्ट्रीयता को छोड़कर स्वयं को दीन-हीन मानकर विदेशों का ही अन्धानुकरण करते हैं।

आत्मविश्वास से रहित व्यक्तियों की क्या दशा होती है? उसकी एक किवदंती प्रस्तुत कर रहा हूँ-एक बार एक ब्राह्मण को दान में एक बछड़ा मिला। वह उस बछड़े को लेकर घर वापिस जा रहा था। रास्ते में कुछ ठग उसे देखकर विचार करने लगे कि इसको ठगना चाहिए। वे कुछ-कुछ दूर पर उसी रास्ते में रहकर उसको ठगने की योजना बनाने लगे। पहले ठग के साथ जब ब्राह्मण की भेंट हुई तब वह बोलता है नमोस्तु ब्राह्मण महाराज। आप इस कुत्ते के बच्चे को किधर ले जा रहें हो? ब्राह्मण विचार करता है कि मुझे तो दान में बछड़ा मिला था यह सज्जन इसको कुत्ते का बच्चा कैसे कह रहा है। तब वह बछड़े को कन्धे से नीचे उतार कर देखता है कि यह तो सचमुच बछड़ा है कुत्ता नहीं है, फिर उस बछड़े को कन्धे पर डाल कर आगे बढ़ता है। आगे के ठगों ने भी उसी ढंग से उसी बात को बार-बार दोहराया। तब ब्राह्मण सोच में पड़ गया कि मेरी ही बुद्धि भ्रमित

हो गई है या दृष्टि में दोष आगया है जिसके कारण मैं कुत्ते को बछड़ा मानकर ले जा रहा हूँ। ऐसा विचार कर उसने बछड़े को वहीं छोड़ दिया। ठग तो यही चाह रहे थे। वे खुशी-2 बछड़े को लेकर चल दिये। इसी प्रकार विदेशी लोग भारतीयों के लिए कुछ गलत सिद्धान्त बार-2 दोहराते हैं और भारतीय उसको सत्य मानकर ही उसे स्वीकार करने लगते हैं तथा उसका अनुसरण करने लगते हैं और सत्य मार्ग को छोड़ देते हैं। वे सत्य- तथ्य को नहीं जानना चाहते हैं तथा न ही शोध करते हैं। इसके लिए एक और उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ-

एक बार एक राज्य में राज्योत्सव था। राजा पालकी में बैठकर राज्य मार्ग में जा रहे थे। इसके कारण नगर को सजाया गया था। हठात् से एक कुत्ते ने आकर एक सेठ के घर के सामने मल त्याग कर दिया। सेठ विचार करने लगा कि यह तो अनर्थ हो गया। अभी राजा आयेंगे तो मुझे दण्ड दे सकते हैं। ऐसा विचार करके उत्सव के लिए जो पुष्प रखे गये थे उनमें से कुछ पुष्प लेकर शौच के ऊपर डाल दिये। जब उस मार्ग पर अन्य लोग आते हैं तो सोचते हैं कि यहा कोई नये देवता प्रगट हुये हैं इसलिए वे पुष्प चढ़ाये गये। ऐसा विचार करके उन लोगों ने पुष्प चढ़ाये और नारियल फोड़े यहाँ तक की अगरबत्ती भी जलाने लगे। राजा जब वहाँ आते हैं तब वहाँ फूल-फलों का ढेर लगा रहता है। राजा यह देखकर प्रश्न करते हैं-'रास्ते में फल एवं फूल चढ़ाने का क्या कारण है?' जब कोई उत्तर नहीं देते हैं तो सेठजी प्रसन्न होकर बोलते हैं कि आज राज्योत्सव के कारण चिरक देवता प्रगट हुये हैं। राजा साक्षात् दर्शन करने के लिए पुष्प एवं फलों को हटाने के लिए आज्ञा देते हैं। आज्ञानुसार पुष्प एवं फल हटा दिये जाते हैं वहाँ देवता के स्थान पर कुत्ते की टटटी पड़ी हुई मिली। इस प्रकार जो बिना परिक्षण करके दूसरों पर विश्वास करते हैं वे भी उन अन्धानुकरण करने वाले व्यक्तियों की तरह धोखे में रहते हैं। जिस प्रकार कोलम्बस भारत आविष्कार के लिए निकला और एक भू-भाग पर पहुँचा एवं उस भू-भाग को भारत धोषित किया और पाश्चात्य जगत् ने उसको भारत के रूप में स्वीकार किया।

परन्तु जब वारकोडिगामा यथार्थ भारत में पहुँचा तब मालूम हुआ कि कोलम्बस द्वारा अविष्कृत देश भारत नहीं है परन्तु अन्य देश (Red India) है। इसी प्रकार कुछ ऐतिहासिक विषय है जो कि आनुमानिक है तो कुछ भ्रम है तो कुछ असत्य भी है।

विदेश के लोग बिना अकादम्य प्रमाण से जो भी कुछ बोलते हैं उसको तो कुछ भारतीय लोग अनुभव किये बिना ही स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु कोई भारतीय के द्वारा सप्रमाण सिद्ध करने पर भी वे स्वीकार करने में आनाकानी करते हैं। यह भारतीयों का पाश्चात्य अन्धानुकरण है। इस अन्धानुकरण को हटाने के लिए मैंने अनेक पुस्तकें लिखी है उनमें से यह एक पुस्तक है। मैंने इस पुस्तक की रचना प्राचीन लेखकों के साहित्यों के आधार पर की है। यदि इस पुस्तक में कोई त्रुटि हो तो उसे यदि कोई विज्ञ, गुणग्राही पाठक त्रुटि रूप में सिद्ध करेगा तो मैं उसके ऊपर सहर्ष विचार करूँगा। इस पुस्तक के लेखन कार्य में सहायता करने वाली निवाई की मेरी धार्मिक शिष्याएँ कुमारी सन्मति जैन, कु. रेखा पाटनी, कु. साधना पाटनी तथा बिजौलियां की धार्मिक शिष्याएँ कु. श्वेता जैन, कु. मैना सेठिया, कु. आरती जैन, कु. शालिनी जैन हैं।

इस साहित्य कार्य में सहायता करने वाले द्रव्यदाता तथा शोध संस्थान के कार्यकर्ताओं को मेरा शुभाशीर्वाद है। सत्य जिज्ञासु सत्य को जानकर सत्य का अनुसरण करके परम सत्य को प्राप्त करें ऐसी महती शुभ कामनाओं के साथ-

उपाध्याय कनकनन्दी

बिजौलिया

25-6-94

विषय-सूची

अध्याय	अनुक्रमणिका	पृष्ठ संख्या
प्रथम		
1.	भारतीय आर्यों का यथार्थ इतिहास 11
2.	प्राचीनतम आर्यों का इतिहास (उत्तम भोग-भूमि) 25
3.	मध्यम भोग भूमि 28
4.	जघन्य भोग भूमि 29
5.	समाज सुधारक महापुरुष 31
6.	भारत की प्रथम वर्षा 42
7.	भारत में वनस्पति की प्रथम उत्पत्ति 45
8.	तत्कालीन धान्य 46
9.	भूख से व्याकुलित प्रजा 46
10.	सर्व प्रथम धान्य का प्रयोग 48
11.	सर्व प्रथम मिट्टी के बरतन का निर्माण 48
12.	भोग-भूमि मनुष्यों का वर्णन 55
13.	भोग-भूमि जीवों के शरीर संगठन 56
14.	भोग-भूमि में असामाजिक जीवन 57
15.	भोग-भूमि में भोग विलासिता 58
16.	भोग-भूमि में उत्पन्न होने का कारण 60
17.	भोग-भूमि में जन्म तथा जीवन-यापन 64
18.	भोग-भूमि में उत्क्रान्ति 72
19.	युगों के प्रमाण 94
20.	आर्यों की शारीरिक अवस्थायें 98
21.	आर्य एवं आर्य संज्ञा 100
22.	प्राचीन आर्य कालीन पशु 100

अध्याय	अनुक्रमणिका	पृष्ठ संख्या
23.	दण्ड व्यवस्था का प्रारम्भ 103
24.	प्राकृतैदिक आर्यों के जीविकोपार्जन साधन : कल्पवृक्ष 109
द्वितीय-		
1.	आर्य और म्लेच्छ 116
2.	अपरिवर्तनशील भोगभूमिज आर्यों की आयु 130
3.	ऋद्धिरहित आर्य 146
4.	जाति से आर्य 147
5.	क्षेत्र से आर्य 147
6.	स्थानांग सूत्र में वर्णित आर्य एवं अनार्य 148
7.	क्षेत्रानुसार परिस्थिति 154
8.	अनार्य (म्लेच्छ) 156
9.	अन्तर्द्वीपज अनार्य 159
तृतीय-		
1.	सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षणिक एवं धार्मिक क्रान्ति के आद्य आर्य : ऋषभ देव 166
2.	लिपि निर्माण का इतिहास 170
3.	लिपि निर्माता 172
4.	षट् कर्म एवं वर्णश्रम 181
5.	विभिन्न देशों की स्थापना 182
6.	सुरक्षोपाय एवं किले का निर्माण 184
7.	राजधानी निर्माण 185
8.	ग्राम नगरादि के निर्माण 185
9.	नगर 186
10.	प्रथम आर्य राजा : ऋषभदेव 189
11.	राजपोषक 191

अध्याय	अनुवादमणिका	पृष्ठ संख्या
12. क्रष्णभद्रेव का राज्यानुशासन	192
13. प्रजा का विभाग	192
14. अधिराज नियुक्ति	200
15. पुत्रों की व्यवस्था	201
16. इक्षुरस आविष्कारक	202
17. युग निर्माता आदि ब्रह्मा	202
18. कर्म युग प्रारम्भ	203

इस कृति की संदर्भिता-खूची-

1. आदि पुराण
2. हरिवंश पुराण
3. मनुसमृति
4. विष्णु पुराण
5. श्रीमद् भागवत्
6. अमर कोष
7. उत्तराध्ययन
8. तत्वार्थवार्तिक
9. तत्वार्थवृत्ति
10. सर्वार्थसिद्धि
11. तत्वार्थश्लोकवार्तिक
12. स्थानांग सूत्र
13. भारतीय संविधान

स्व. ललित कुमार जैन (बगड़ा) की पुण्य स्मृति में उन्हीं की धर्मपत्नी श्रीमती शिमला जैन द्वारा प्रदत्त = रु. 5000/- (बिजौलिया)

भारतीय आर्यों का यथार्थ इतिहास

जिस प्रकार व्यापारी (पूर्व) संचित पूंजी के बल पर वर्तमान के पुरुषार्थ के माध्यम से व्यापार करके प्रगति करता हुआ अग्रसर होता है, उसी प्रकार मनुष्य भी पहले की अपनी स्वरथ संस्कृति, सभ्यता, परम्परा, विरासत रूपी पूंजी के बल पर वर्तमान के ज्ञान, विज्ञान एवं पुरुषार्थ के बल पर स्वयं को अधिक समृद्ध, सभ्य, सुरांस्कृत ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न बनाता हुआ भविष्यत् के लिये अग्रसर होता है। अतएव प्रत्येक राष्ट्र की प्रगति के लिये उसकी भूतकालीन परम्परा, सभ्यता, संस्कृति, विरासत पूंजी स्वरूप है। ऐसी पूंजी से रहित राष्ट्र शीघ्रता से प्रगति नहीं कर सकता है। जो अपनी समृद्ध विरासत को भूल जाता है, वह मूल से रहित वृक्ष के समान सूख जाता है, मर जाता है, मिट जाता है। इसलिये चिन्तकों ने कहा है-

जिनको न निजगौरव तथा निजदेश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नर पशु निरा और मृतक समान है॥

Let our object be, our country, our whole country and nothing but our country:-Daniel webster.

Our country's welfare is our first concern and who promotes that best, best proves his duty:-Howard.

He, who loves not his country can love nothing.

-Byron

अतएव भारत के पूर्व गौरव को जानना प्रत्येक भारतीय का प्रधान एवं परम कर्तव्य है। उस प्राचीन गौरव से प्रेरणा लेकर उज्ज्वल आदर्शमय भविष्यत् की ओर बढ़ना हम भारतीयों का कर्तव्य है।

इसलिये स्वराष्ट्र, स्वधर्म, स्वजाति के यथार्थ इतिहास को जानना प्रत्येक उन्नत कामा मनुष्य का परम कर्तव्य है। परन्तु वह इतिहास यथार्थ होना चाहिये और वह इतिहास सर्वज्ञ, हितोपदेशी पक्षपात से रहित सत्यग्राही ऋषि द्वारा प्रणीत होना चाहिये। कहा भी हैं—

ऋषिप्रणीतमार्ष स्यात् सूक्तशासनात्।
धर्मानुशासनाच्येदं धर्म शास्त्रमिति स्मृतम्।(24)।
(आदि पुराण, प्रथम पर्व)

इतिहास इतीष्टं तद इतिहासीदिति श्रुतेः।
इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नायं चामनान्ति तत्।(25)।

यह ग्रन्थ ऋषि प्रणीत होने के कारण आर्ष सत्यार्थ का निरूपक होने से सूक्त तथा धर्म का प्ररूपक होने के कारण धर्मशास्त्र माना जाता है। ‘इति इह आसीत्’ यहां ऐसा हुआ ऐसी अनेक कथाओं का इसमें निरूपण होने से ऋषिगण इसे ‘इतिहास’, ‘इतिवृत्’ और ‘ऐतिह्य’ भी मानते हैं।

इतिहास का उद्देश्य है यथार्थ प्राचीन सत्य- तथ्य को जानकर उससे कुछ सच्चे आदर्श एवं शिक्षाओं को ग्रहण कर आगे प्रगति- पथ पर अग्रसर होना न कि मानव समाज के लिये अथवा इतिहास के लिये कलंक स्वरूप कुछ कूर राजा, योद्धा एवं उनके द्वारा किया गया युद्ध एवं अत्याचार है। ऐसे अनादर्श इतिहास का अध्ययन करना मानो गढ़े हुए सड़े शव को खोदकर बाहर निकालना है। जिस प्रकार गढ़े हुये शव को निकालने से परिश्रम व्यर्थ जाता है एवं दुर्गन्ध फैलती है उसी प्रकार अनादर्श इतिहास की रचना एवं अध्ययन से केवल समय, शक्ति का दुरुपयोग होता है एवं जनगण-मन में तथा राष्ट्र एवं विश्व में विषमता, भेदभाव, ऊच-नीच की भावना रूपी दुर्गन्ध फैलती है। अतएव यथार्थ इतिहास का स्वरूप पूर्व महान्- ऐतिहासिक मनुष्यों ने निम्न प्रकार किया है-

महापुरुष सम्बन्धि महाभ्युदयशासनम्।
महापुराणमान्नात् मत एतन्महर्षिभिः।(23)।

यह पुराण महापुरुषों से सम्बन्ध रखने वाला है तथा महान् अभ्युदय स्वर्ग मोक्षादि कल्याणों का कारण है, इसलिये महर्षि लोग इसे महापुराण मानते हैं।

पुराणमिति हा साख्यं यत्प्रोवाच गणाधिपः।
तत्किलाहमधीर्वक्ष्ये वेऽवलं भक्तिचोदितः।(26)।

जिस इतिहास नामक महापुराण का कथन स्वयं गणधर देव ने किया है, उसे मैं मात्र भक्ति से प्रेरित होकर कहूँगा क्योंकि मैं अल्पज्ञानी हूँ।

महापुराणसम्बन्धि महान् यक्ष मोक्षरम्।
त्रिवर्गफलसंदर्भ महाकाव्यं तदिष्यते।(99)।

जो प्राचीन काल के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला हो, जिसमें तीर्थकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के चरित्र का चित्रण किया गया हो तथा जो धर्म, अर्थ, और काम के फल को दिखाने वाला हो उसे महाकाव्य कहते हैं।

पुरातनं पुराणं स्यात् तन्मन्महदाश्रयात्।
महाद्विरूपदिष्टत्वात् महाश्रेवोऽनुशासनात्।(21)।

यह ग्रन्थ अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित है इसलिये पुराण कहलाता है। इसमें महापुरुषों का वर्णन किया गया है अथवा तीर्थकर आदि महापुरुषों ने इसका उपदेश दिया अथवा इसके पढ़ने से महान् कल्याण की प्राप्ति होती है, इसलिये इसे महापुराण कहते हैं।

जब हम महान् इतिहास या ऐतिहासिक महापुरुष या पौराणिक महापुरुष के बारे में अध्ययन करते हैं तब हम उनसे कुछ नैतिक ऊर्जा, आदर्श की शिक्षा प्राप्त करके आगे बढ़ने के लिए कृत- संकल्प होते हैं एवं प्रगति में सफलता प्राप्त करते हैं। कहा भी है-

यद्याचरित श्रेष्ठं स्तत्तदेवेत्तरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

जो जो आचरण श्रेष्ठ महापुरुष करते हैं वे वे आचरण अन्य जन अनुकरण

करते हैं। महापुरुष जिसको प्रमाणित करते हैं, समाज के सामने आदर्श प्रस्तुत करते हैं, लोक मानस उसका अनुकरण करते हैं। व्यासदेव ने विश्व के महाकाव्य महाभारत में कहा भी है-

महाजनों येन गताः सः पन्थाः ।

महामानव जिस मार्ग पर अपने दृढ़ उन्नतिशील पद को धारण करके आगे बढ़ते हैं, वही मार्ग दूसरों के लिए आदरणीय, अनुकरणीय, आदर्शपथ

मार्ग बन जाता है अर्थात् महापुरुष दीप-स्तम्भ के समान र्वयं को प्रकाशित करने के साथ-साथ दूसरों को भी प्रकाश प्रदान करते हैं।

प्रत्येक देश-विदेश के इतिहास पुराणों के पन्ने महापुरुषों की जीवनगाथा से ही सजीवता को प्राप्त हुए हैं। महापुरुषों की जीवन गाथा यदि इतिहास पुराणों से निकाल दी जाये तो इतिहास के पन्ने निर्जीव कोरे कागज रह जावेंगे। महापुरुषों के जीवन चलते-फिरते जीवन्त इतिहास के सदृश्य है। महापुरुषों की जीवन गाथा महान् है। महापुरुषों से इतिहास बनता है किन्तु इतिहास से महापुरुष नहीं बनते हैं। महापुरुषों का जीवन निम्न प्रकार होता है-

चलते-चलते राह हैं, बढ़ते बढ़ते ज्ञान ।
तपते-तपते सूर्य है, महापुरुष महान् ॥

हमारा महान् भारत देश ऐसे महान् इतिहास एवं ऐतिहासिक महापुरुषों से अनादि काल से गौरवान्वित रहा है। इसलिये तो इस देश के लिए निम्नोक्त सुप्रचलित सुक्ति है-

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यारत्तु ते भारत भूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गरथ्यद मार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

—विष्णु पुराण, 2.6.24

देवगण भी गान करते हैं कि भारत भूमि में जन्म लेने वाले लोग धन्य हैं। स्वर्ग और अपवर्ग कल्प इस देश में देवता भी देवत्व को छोड़कर मनुष्य योनि में जन्म लेना चाहते हैं।

अहो अमीषां किमकारिशोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत र्वयं हरिः ।

यैर्जन्म लाभं नृप भारताजिरे मुकुन्द सैवोपायिकं रृपृहा हिनः ॥

—श्री मद्भागवत, 5 / 19 / 21

देवता भारतीय मनुष्यों के सौभाग्य पर ईर्ष्या करते हुये कहते हैं-अहा ! इन लोगों ने न जाने ऐसे कौन से शुभ कर्म किये थे, जिनके फलस्वरूप इन्हें भारत भूमि के प्रांगण में मानव जन्म सुलभ हुआ हैं। लगता हैं, भगवान् र्वयं इन पर प्रसन्न हो गये थे। भगवान् की सेवा के योग्य ऐसा जन्म पाने की इच्छा तो हमारी भी होती है।

जिस प्रकार खुशबू से आकर्षित होकर भ्रमर पुष्प के निकट आते हैं एवं मधुपान करते हैं, उसी प्रकार भारत की खुशबू से आकर्षित होकर ईसा पूर्व 200-300 शताब्दी में युनान से सिकन्दर बादशाह भारत में आया था। उसके बाद तो विदेशियों का आगमन कभी आक्रमणकारी रूप में, तो कभी शत्रु रूप में तो कभी मित्र रूप में होता रहा। कुछ तो लूटपाट करके धन-वैभव को लेकर स्वदेश वापस गये तो कुछ भारतीय ज्ञान-विज्ञान को लेकर वापस स्वदेश गये, तो कुछ यहां के निवासी बनकर रह गये। इन विदेशियों में से यूनानी, यवन, शक, हुण आदि हैं। परन्तु 'सिकन्दर' के पहले प्राक् ऐतिहासिक काल में अर्थात् पौराणिक युग से लेकर सिकन्दर तक कोई विदेशी आर्य जाति का भारत के आदिम आदिवासी के ऊपर आक्रमण हुआ, जिसके फलस्वरूप भारतीय अनार्य लोग जो विज्ञान, कला, कौशल से रहित होने के कारण परास्त होकर उत्तर भारत को छोड़कर दक्षिण भारत की ओर प्रयाण कर गये' यह सिद्ध नहीं होता है परन्तु इससे विपरीत भारत के प्राचीन शास्त्र के आधार पर निर्भान्त सप्रमाण सिद्ध होता है कि इस भारत वर्ष में आदिम काल से ही आर्य लोग निवास करते आ रहे हैं जो कि ज्ञान-विज्ञान, सम्यता, संरकृति से सम्पन्न हैं। इस देश का प्राचीन नाम आर्यावर्त इसीलिए ही पड़ा है। मनुसमृति में कहा भी है-

आसमुद्रात् वै पूर्वादासमुद्रात् पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त विदुर्बुधः।(22)
पृ. 26 अ. II

पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र पर्यन्त दोनों पर्वतों (हिमालय और विध्याचल) के बीच के देश को पंडितों ने आर्यावर्त कहा है।

सरस्वती दृष्ट्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त प्रचज्ञते।(17)

सरस्वती और दृष्ट्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् का जो अन्तर है उसे देवताओं का बनाया हुआ ब्रह्मावर्त देश कहते हैं।

तस्मिन्देशे य आचारः पारपर्यक्रमागतः।
वर्णनां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते।(18)

उस देश के चारों वर्णों और उनके अन्तराल (संकीर्ण) जातियों के परम्परा से जो आचार हैं उन्हीं को सदाचार कहते हैं।

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मिंदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः।(19)

कुरुक्षेत्र और मत्स्यदेश, पांचाल (कान्य-कुंज) और शूरसेन (मथुरा) ये ब्रह्मिंदेश हैं जो कि ब्रह्मावर्त से न्यून हैं।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरितं शिक्षरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः।(20)
इस देश (उपर्युक्त कुरुक्षेत्रादि) में उत्पन्न ब्राह्मणों से सम्पूर्ण पृथ्वी के मनुष्यों को अपने-अपने चरित्र (आचार) को सीखना चाहिये।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तिः।(21)

सरस्वती नदी के पूर्व और प्रयाग से पश्चिम हिमालय और विन्ध्य पर्वत के मध्य के देश को मध्यदेश कहते हैं।

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः।(23)

जहाँ पर स्वभाव से ही काले रंग के मृग रहते हों वह यज्ञ करने के योग्य देश है, इससे भिन्न म्लेच्छ देश हैं।

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः।

ये द्विजों के देश हैं। इसमें द्विजजाति को प्रयत्न करके रहना चाहिये।

प्राचीन काल से इस आर्यावर्त में आर्यलोग निवास करते आ रहे हैं उसी प्रकार कुछ अनार्य (म्लेच्छ) लोग भी यहाँ निवास करते आ रहे हैं, इसका सविस्तृत वर्णन इसी पुस्तक में किया गया है। तथापि कुछ संक्षिप्त प्रकाश डाल रहा हूँ। चारित्र (आचार) क्षेत्रं (देश) के भेद से आर्य एवं अनार्य विभिन्न प्रकार के होते हैं। अमर-कोष में महान् व्यक्तियों को आर्य कहा गया है। यथा-

महाकुल कुलीनार्य सभ्यसञ्जन साधवः।

(अमरकोषः पृष्ठ नं. 130)

महाकुल, कुलीन, आर्य, सभ्य, सञ्जन, साधु ये छः नाम सञ्जन के हैं। म्लेच्छों के लिये निम्न प्रकार से कहा गया है-

भेदाः किरातशवर पुलिन्दा म्लेच्छजातयः।

(अमरकोषः पृष्ठ नं. 188)

किरात, शबर, पुलिन्द ये तीन भेद म्लेच्छ जाति के हैं। योग वशिष्ठ में आर्य किसको कहते हैं, बताते हुए कहा गया है-

कर्तव्यपाचरन् कामं अकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे स तु 'आर्य' इतिस्मृतः॥

कर्तव्य कर्म को भली - भाँति पालन करने वाले को आर्य कहते हैं। महर्षि वेदव्यास ने महाभारत के उद्योगपर्व में लोभ, मोह, क्रोध और गर्व से रहित सत्कार्यों में रत शीलवान व्यक्ति को आर्य बतलाया है-

न बैर मुद्दी पयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तेमेति ।
न दुर्गतोपीति करोत्कार्यं समार्थशीलं परमाहुरायाः ।

आर्य के विषय में ऋग्देव का कथन है कि आर्य वे हैं जो धरती पर सत्य, अहिंसा, पवित्रता, परोपकार आदि व्रतों को विशेष रूप से धारण करते हैं (आर्यावर्ता विसृजन्तो अधिक्षमि 10.65.11) इसी प्रकार दस्यु शब्द किसी जाति विशेष के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। ऋग्देव में बताया गया है कि दस्यु वह है जो अकर्मण्य या सोच - विचार कर कार्य नहीं करता जो अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का पालन नहीं करता अपितु इसके विपरीत हिंसा, कूरता, असत्य आदि का व्यवहार करता है और जो मनुष्यों के लिए उचित आचरण नहीं करता (अकर्मा दरस्युरभि नो अमनतुरम्य व्रतो अमानुषः:- ऋ. 10.22.8) भारतीय परम्परा में जब विशिष्ट धार्मिक कार्य होते हैं तब एक पदावली का उचारण करते हैं जिसमें कहा गया है कि-

मध्य लोके जम्बूद्वीपे भरत क्षेत्रे आर्यखण्डे भारत देशे.....

इसका भावार्थ यह है कि हम इस मध्य लोक के जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारत क्षेत्र के आर्यखण्ड के अन्तर्गत भारत देश.....में रहने वाले इस शुभ कार्य को कर रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि हमारा भारत देश आर्यखण्ड के अन्तर्गत है और हम इसमें रहने वाले आर्य हैं। जिस प्रकार अभी स्कूल के बच्चे प्रतिज्ञा करते हैं कि हम भारतवासी है अथवा जिस प्रकार संविधान की प्रथम पंक्ति में ही लिखा हुआ है कि-

WE, THE PEOPLE OF INDIA, having solemnly resolved to constitute India in to a(Sovereign socialist sevular Democratic Republic) and to Secure to all its citizens,

हम भारत के लोग, भारत को एक (सम्पूर्ण प्रभुत्व- सम्पन्न समाजवादी पंथ निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य) बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को

अनेक पुराणों में भी आर्यखण्ड के अन्तर्गत हमारे देश को भारत कहा गया है एवं यहाँ के निवासियों को भारती या भारतीय कहा गया है। तथा.....

उत्तरं यत्समुद्रस्य, हिमाद्रिश्वेव दक्षिणं;
वर्ष तम् भारतनाम भारती यत्र संततिः।

उपरोक्त समस्त वर्णन से एवं आगे सम्पूर्ण अकाट्य प्रमाण से सिद्ध होता है कि भारत में आदि काल से ही सभ्य आर्यलोग निवास करते आ रहे हैं, वे भारत के लिए आगन्तुक नहीं हैं, वे आक्रमणकारी नहीं हैं एवं विदेशिक अथवा शत्रु भी नहीं हैं। ऐसा ही अभिमत कुछ विदेशिक शोधकर्ता ऐतिहासिक मनुष्यों का है। मैक्समूलर भी आर्यों को भारत के मूल निवासी मानते थे। टी. बरो अपने 'अर्ली आर्यन्स' नामक लेख में जो ए. एल. बाशम द्वारा सम्पादित 'कल्चरल हिस्ट्री आफ इंडिया' नामक पुस्तक में छपा है, कहते हैं कि- भारत पर आर्यों के आक्रमण का कहीं कोई लिखित उल्लेख नहीं मिलता। पुरातत्व की दृष्टि से भी इसकी पुष्टि आज तक नहीं हो सकी है। इसी तरह एलफिन्स्टल अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ इंडिया' में लिखते हैं- न तो वेदों में, न मनुस्मृति में, न किसी ऐसी पुस्तक में जो मनुस्मृति से प्राचीन है, कोई ऐसा प्रसंग आया है कि आर्य भारत के बाहर किसी अन्य देश के निवासी थे। म्यूर ने अपनी पुस्तक 'ओरिजनल संस्कृत टेक्सर' नामक विशालकाय ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में भी लिखा है कि 'मैं निष्ठापूर्वक यह स्वीकार करता हूँ कि संस्कृत के किसी भी ग्रन्थ में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिसमें आर्यों को विदेशी मूल का माना गया हो। ऋग्देव में प्रयुक्त दास, दास्य, असुर आदि शब्दों से भी इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि इनका प्रयोग भारत के आर्यों द्वारा मूल निवासियों के लिये किया गया हो।

(राजस्थान - पत्रिका)

भारत देश के लिए आर्यावर्त शब्द एवं भारतीयों के लिए आर्य शब्द का प्रयोग केवल प्राग् - ऐतिहासिक काल या पौराणिक काल से ही नहीं हो रहा है, परन्तु प्राग् -पौराणिक काल अर्थात् गणनातीत (असंख्यात) वर्ष

पहले से ही हो रहा है। क्योंकि असंख्यात वर्ष पहले इस भारत देश में भोगभूमि का प्रवर्तन था और भोगभूमि में जन्म लेने वाले पुरुषों को आर्य कहते थे एवं स्त्रियों को आर्या कहते थे। यही परम्परा अक्षीण रूप में महाभारत युग तक रही है इसलिए तो सीता रामचन्द्र को आर्य कहकर पुकारती थी तथा द्रोपदी भी अर्जुन को आर्य कहकर सम्बोधन करती थी। मैंने इसी पुस्तक में प्रायः डेढ़-दो हजार वर्ष प्राचीन जैन तथा हिन्दू ग्रन्थों के आधार पर सिद्ध किया है कि वर्तमान की जो कल्पना है कि आर्य लोग बाहर से आये थे, यह केवल कोरी कल्पना है इसी प्रकार यह सत्य, तथ्य एवं ऐतिहासिकता नहीं है। यह केवल विदेशों का मायाजाल है जिस जाल में कुछ भारतीय लोग भी फँस गये हैं। विदेश के लोग भारतीयों को हीन, असभ्य, बर्बर बताकर उनमें हीन भावना पैदा करके अपना वर्चस्व कायम करना चाहते थे। जिसमें से कुछ हद तक सफल हुये। क्योंकि कुछ अन्धानुकरण करने वाले व भेड़चाल वाले भारतीयों ने भी उनकी हाँ में हाँ मिलाई है, इसमें ही वे अपनी मान, मर्यादा, शान समझते थे। अभी भी कुछ ऐसे भारतीय लोग अपनी विवेक रूपी चक्षु को बन्द करके उनका ही अनुसरण करते हैं। क्योंकि वे विदेशों का अन्धानुकरण करने एवं उनका झूँठन चाटने में ही स्वयं को सभ्य एवं शिक्षित मानते हैं।

प्राचीन भारतीय आर्य लोग स्वयं को भारतीय आर्य स्वाभिमान से मानते थे और भारतीय आर्य बनना महान् दुर्लभ मानते थे। कहा भी है-

लद्धुण वि माणुसत्तणं, आरिअत्तं पुणरावि दुल्भहं।
बहणे दसुया मिलेक्खुया, समयं गोयम /मा पमायए।(16)।

उत्तराध्ययन सूत्र पृष्ठ नं.96

दुर्लभ मनुष्य जीवन पाकर भी आर्यत्व पाना दुर्लभ है। क्योंकि मनुष्य होकर भी बहुत से लोग दस्यु और म्लेच्छ होते हैं। अतः गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

हमारे देश का प्राचीनतम नाम आर्यावर्त एवं यहाँ के निवासियों को आर्य कहते थे। उसके अनन्तर तीर्थकर ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत

के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा एवं यहाँ के निवासियों को भारतीय कहा गया। इसका विशेष वर्णन मैंने मेरी पुस्तक “ऋषभ पुत्र भरत से भारत” में किया है, अधिक जिज्ञासु व्यक्ति उस पुस्तक से विशेष जानकारी प्राप्त करें।

भारत को हिन्दुस्तान कहना एवं भारतीयों को हिन्दू कहना यह अर्वाचीन आधुनिक परम्परा है। क्योंकि ऐसी परम्परा जैन, हिन्दू, बोद्धों के प्राचीन ग्रन्थों में अभी तक कहीं भी देखने को नहीं मिली है। कुछ हिन्दी व संस्कृत साहित्य में इस परम्परा का वर्णन है, परन्तु यह साहित्य अति प्राचीन नहीं है। हिन्दुत्व शब्द का भी वर्णन है, परन्तु यह साहित्य अति प्राचीन नहीं है। हिन्दुत्व शब्द का प्रयोग बहुत पुराना नहीं है। हिन्दू धर्म, संस्कृति और उनके प्रतीकात्मक चिन्हों के पददलित होने के साथ ही हिन्दुत्व शब्द का जन्म हुआ। सन् 1712 ई. में मोहम्मद बिन कासिम द्वारा सिन्ध विजय को एक घटनामात्र मान लें तो भी यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है कि सन् 1001 ई. से सन् 1025 ई. तक के महमूद गजनवी के 17 आक्रमणों ने हिन्दुत्व शब्द को जन्म दिया। उस समय बार-बार हिन्दू धर्म, समाज, संस्कृति, सभ्यता, भाषा, साहित्य की रक्षा की पुकार उठी। इन सब पहलुओं को समाहित किया हिन्दुत्व शब्द ने। फिर सन् 1192 ई. में मुहम्मद गौरी के हाथों से अंतिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान के पराभव के साथ शुरू हुआ। इतिहास का वह त्रासदीपूर्ण अध्याय जिसमें महमूद गजनवी के कुकृत्यों को बारम्बार दोहराया गया और जिसका पटाक्षेप हुआ सन् 1799 ई. में टीपू सुल्तान की मृत्यु के साथ।

इस पुस्तक में मैं भारत, का प्राचीनतम इतिहास, यहाँ की परिस्थिति, यहाँ की सभ्यता, संस्कृति और विभिन्न काल तथा उस काल के कुछ महापुरुषों के साथ- साथ आर्य एवं अनार्यों का वर्णन यथाक्रम आगे सविस्तृत कर रहा हूँ।

काल द्रव्य अनादि निधन है, वर्तना उसका लक्षण माना गया है (जो

द्रव्यों की पर्यायों के बदलने में सहायक हो उसे वर्तना कहते हैं) यह काल द्रव्य अत्यंत सूक्ष्म परमाणु के बराबर है जो असंख्यात होने के कारण समस्त लोकाकाश में भरा हुआ है।

कालद्रव्य- यह एक परमाणु लोकाकाश के एक- एक प्रदेश पर स्थित है। उस कालद्रव्य में अनन्त पदार्थों के परिणमन कराने की सामर्थ्य है अतः वह स्वयं असंख्यात होकर भी अनन्त पदार्थों के परिणमन में सहकारी होता है। जिस प्रकार कुम्हार के चाक के धूमने में उसके नीचे लगी हुई कील सहकारी बाह्य कारण है उसी प्रकार पदार्थों के परिणमन होने में काल द्रव्य सहकारी कारण है। संसार के समस्त पदार्थ अपने -अपने गुण पर्यायोंद्वारा स्वमेव ही परिणमन को प्राप्त होते रहते हैं और काल द्रव्य उनके उस परिणमन में मात्र सहकारी कारण होता है। जबकि पदार्थों का परिणमन अपने-अपने गुण रूप में होता है तब अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि वे सब पदार्थ सर्वदा पृथक्-पृथक् रहते हैं अर्थात् अपना स्वरूप छोड़कर परस्पर में मिलते नहीं हैं। युक्ति से भी कालद्रव्य का सदभाव सिद्ध होता है। वह युक्ति इस प्रकार है कि संसार में जो घड़ी, घण्टा आदि व्यवहार काल प्रसिद्ध है वह पर्याय है। पर्याय का मूलभूत कोई न कोई पर्यायी अवश्य होता है क्योंकि बिना पर्यायी के पर्याय नहीं हो सकती इसलिए व्यवहार काल का मूलभूत-मुख्य कालद्रव्य है। मुख्य पदार्थ के बिना व्यवहार गौण पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती। जैसे कि वास्तविक सिंह के बिना किसी प्रतापी बालक में सिंह का व्यवहार नहीं किया जा सकता, वैसे ही मुख्य काल के बिना घड़ी, घण्टा आदि में कालद्रव्य का व्यवहार नहीं किया जा सकता। परन्तु होता अवश्य है इससे कालद्रव्य का अस्तित्व अवश्य मानना पड़ता है। यद्यपि इनमें एकसे बहुप्रदेशों का अभाव है इसीलिए इसे अस्तिकायों में नहीं गिना जाता है तथापि इसमें अगुरुलघु आदि अनेक गुण तथा उनके विकार स्वरूप अनेक पर्याय अवश्य हैं क्योंकि यह द्रव्य है। जो-जो द्रव्य होता है उसमें गुणपर्यायों का समूह अवश्य रहता है। द्रव्यत्व का गुणपर्यायों के साथ जैसा सम्बंध है वैसा बहुप्रदेशों के साथ नहीं है। अतः बहुप्रदेशों का अभाव होने पर भी कालपदार्थ

द्रव्य माना जा सकता है और इस तरह काल नामक पृथक् पदार्थ की सत्ता सिद्ध हो जाती है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश को अस्तिकाय कहने से ही यह सिद्ध होता है कि काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है क्योंकि विपक्षी के रहते हुए ही विशेषण की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। जिस प्रकार छः द्रव्यों में चेतन रूप आत्म द्रव्य को जीव कहना ही पुद्गलादि पाँच द्रव्यों को अजीव सिद्ध कर देता है उसी प्रकार जीवादि को अस्तिकाय कहना ही काल को अनस्तिकाय सिद्ध कर देता है। इस मुख्य काल के अतिरिक्त जो घड़ी, घण्टा आदि है वह व्यवहार काल कहलाता है। यहां यह याद रखना आवश्यक होगा कि व्यवहार काल मुख्य काल से सर्वथा रूपतन्त्र नहीं हैं वह उसी के आश्रय से उत्पन्न हुआ उसकी पर्याय ही हैं। यह छोटा है, यह बड़ा है आदि बातों से व्यवहार काल स्पष्ट जाना जाता है ऐसा सर्वज्ञ देव ने वर्णन किया है। यह व्यवहार काल वर्तना लक्षण रूप निश्चय काल द्रव्य के द्वारा ही प्रवर्तित होता है और वह भूत, भविष्यत्, तथा वर्तमान रूप होकर संसार का व्यवहार चलाने के लिए समर्थ होता है अथवा कल्पित किया जाता है। वह व्यवहार काल समय, आवलि, उच्छ्वास, नाड़ी आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। यह व्यवहार काल सूर्यादि ज्योति चक्र के धूमने से ही प्रकट होता है ऐसा विद्वान् लोग जानते हैं। यदि भव, आयु, काय और शरीर आदि की स्थिति का समय जोड़ा जाये तो वह अनन्त समयरूप होता है और उसका परिवर्तन भी अनन्त प्रकार से होता है।

उस व्यवहार काल के दो भेद कहे जाते हैं 1. उत्सर्पिणी और 2. अवसर्पिणी। जिनमें मनुष्यों के बल, आयु और शरीर का प्रमाण क्रम-क्रम से बढ़ता जाये उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें वे क्रम -क्रम से घटते जाये उरों अवसर्पिणी कहते हैं। उत्सर्पिणी काल का प्रमाण दस कोड़ा कोड़ी रागर है तथा अवसर्पिणी काल का प्रमाण भी इतना ही है। इन दोनों को मिला कर बीस कोड़ा -कोड़ी सागर का एक कल्प काल होता है। इन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के प्रत्येक के छह- छह भेद होते हैं। अब क्रम पूर्वक

उनके नाम कहे जाते हैं। अवसर्पिणी काल के छह भेद ये हैं- पहला सुषमा-सुषमा, दूसरा सुषमा, तीसरा सुषमा दुःषमा, चौथा दुःषमा सुषमा, पाँचवाँ दुःषमा, छठा अति दुःषमा अथवा दुःषमा-दुःषमा ये अवसर्पिणी के भेद जानना चाहिए। उत्सर्पिणी काल के भी छह भेद होते हैं जो कि उक्त भेदों से विपरीत रूप हैं, जैसे- 1. दुःषमा- दुःषमा, 2. दुःषमा, 3. दुःषमा- सुषमा, 4. सुषमा-दुःषमा, 5. सुषमा, 6. सुषमा- सुषमा। 'सम' काल के विभाग को कहते हैं तथा सु और दुर उपसर्ग क्रम से अच्छे व बुरे अर्थ में आते हैं। सु और दूर उपसर्गों को पृथक्- पृथक् समा के साथ जोड़ देने तथा व्याकरण के नियमानुसार स को ष कर देने से सुषमा व दुःषमा शब्दों की सिद्धि होती है। जिसका अर्थ क्रम से अच्छा काल और बुरा काल होता है। इस तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छहों भेद सार्थक नाम वाले हैं। इसी प्रकार अपने अवान्तर भेदों से सहित उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल भी सार्थक नाम से युक्त हैं क्योंकि जिसमें स्थिति आदि की वृद्धि होती रहे उसे उत्सर्पिणी और जिसमें घटती रहे उसे अवसर्पिणी कहते हैं। ये उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी नामक दोनों ही भेद काल चक्र के परिभ्रमण से अपने छहों कालों के साथ-साथ कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष की तरह धूमते रहते हैं अर्थात् जिस तरह कृष्ण पक्ष के बाद शुक्ल पक्ष और शुक्ल पक्ष के बाद कृष्ण पक्ष बदलता रहता है उसी तरह अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी बदलती रहती है। पहले इस भरत क्षेत्र के मध्यवर्ती आर्यखण्ड में अवसर्पिणी का पहला भेद सुषमा- सुषमा नामक काल बीत रहा था। उस काल का परिमाण चार कोड़ा कोड़ी सागर था, उस समय यहाँ नीचे लिखे अनुसार व्यवस्था थी।

प्राचीनतम आर्यों का इतिहास

(उत्तम भोग-भूमि)

देवोत्तरकुरुक्षमासु या स्थितिः समवस्थिता।
सा स्थितिर्भास्ते वर्षे युगारम्भे स्म जायते ॥(24)॥

आ. पु. भा. 1 पृ. 48

देवकुरु और उत्तर कुरु नामक उत्तम भोग भूमियों में जैसी स्थिति रहती है ठीक वैसी ही स्थिति इस भरत क्षेत्र में युग के प्रारम्भ अर्थात् अवसर्पिणी के पहले काल में थी।

तदा स्थितिर्मनुष्यानां त्रिपल्योयमसम्मिता।
षट्सहस्राणी चापानामुत्सेधो वपुषः स्मृतः ॥(25)॥

उस समय मनुष्यों की आयु तीन पल्य की होती थी और शरीर की ऊँचाई छह हजार धनुष की होती थी।

वजास्थिबन्धनाः सौम्याः सुन्दराकारचारवः ।
निष्टमकनकच्छाया दीपयन्ते ते नरोत्तमाः ॥(26)॥

उस समय यहाँ जो मनुष्य थे उनके शरीर के अस्थिबन्धन वज्र के समान सुट्ट थे, वे अत्यन्त सौम्य और सुन्दर आकार के धारक थे। उनका शरीर तपाये हुए सुवर्ण के समान दैदीप्यमान था।

मुकुटं कुण्डलं हारो मेखला कटकाङ्गदौ।
केयूरं ब्रह्मसूत्रं च तेषां शश्वद् विभूषणम् ॥(27)॥
मुकुट, कुण्डल, हार, करधनी, कड़ा, बाजूबन्द और यज्ञोपवीत इन आभूषणों को वे सर्वदा धारण किये रहते थे।

ते स्वपुण्योदयोभूतरूपलावण्यसंपदः।
रंम्यन्ते चिरं स्त्रीभिःसुरा इव सुरालये।(28)

वहाँ के मनुष्यों को पुण्य के उदय से अनुपम रूप सौंदर्य तथा अन्य सम्पदाओं की प्राप्ति होती रहती है इसलिए वे सर्वग में देवों के समान अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते हैं।

महासत्वा महाधैर्या महोरस्का महौजसः।
महानुभावास्ते सर्वे महीयन्ते महोदयाः।(29)

वे पुरुष सब के सब बड़े बलवान, बड़े धीर-वीर, बड़े तेजरवी, बड़े प्रतापी, बड़े सामर्थ्यवान और बड़े पुण्यशाली होते हैं। उनके वक्षः स्थल बहुत ही विस्तृत होते हैं तथा वे सब पूज्य समझे जाते हैं।

तेषामाहार सं प्रीति जयिते दिवसैस्त्रिभिः।
कुवलीफलमात्रं च दिव्यान्नं विष्वणन्ति ते।(30)

उन्हें तीन दिन बाद भोजन की इच्छा होती है सो कल्पवृक्ष से प्राप्त हुए बदरी फल बराबर उत्तम भोजन ग्रहण करते हैं।

निर्व्यायामा निरातङ्गा निर्णीहारा निराधयः।
निरस्खेदास्ते निराबाधा जीवन्ति पुरुषायुषाः।(31)

उन्हें न तो कोई परिश्रम करना पड़ता है, न कोई रोग होता है, न मल मूत्रादि की बाधा होती है, न मानसिक पीड़ा होती है, न पसीना ही आता है और न अकाल में उनकी मृत्यु ही होती है। वे बिना किसी बाधा के सुख पूर्वक जीवन बिताते हैं।

स्त्रियोऽपि तावदायुष्कास्तावदुत्सेधवृतयः।
कल्पद्रुमेषु संसक्ताः कल्पवल्य इवोज्ज्वलाः।(32)

वहाँ की स्त्रियां भी उतनी ही आयु की धारक होती हैं, उनका शरीर भी उतना ही ॐ्चा होता है और वे अपने पुरुषों के साथ ऐसी शोभायमान होती हैं जैसे कल्पवृक्षों पर लगी हुई कल्प लताएं।

पुरुषेष्वनुरक्तास्तास्ते च तास्वनुरागिणः।
यावज्जीवमसंक्षिप्ता भुञ्जते भोगसंपदः।(33)

वे स्त्रियां अपने पुरुषों से अधिक अनुरक्त रहती हैं और पुरुष अपनी स्त्रियों में अनुरक्त रहते हैं। वे दोनों ही अपने जीवन पर्यन्त बिना किसी क्लेश के भोग सम्पदाओं का उपयोग करते रहते हैं।

स्वभावसुन्दरं रूपं स्वभावमधुरं वचः।
स्वभावचतुरा चेष्टा तेषां स्वर्गजुषामिव।(34)

देवों के समान उनका रूप स्वभाव से सुन्दर होता है, उनके वचन स्वभाव से मीठे होते हैं और उनकी चेष्टाएँ भी स्वभाव से चतुर होती हैं।

रुच्याहारगृहातोद्या - माल्य भूषाम्बरादिकम्।
भोगसाधनमेतेषां सर्वं कल्पतरुद्वयम्।(35)

इच्छानुसार मनोहर आहार, धर, बाजे, माला, आभूषण और वस्त्र आदि समस्त भोगोपभोग की सामग्री इन्हें इच्छा करते ही कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाती है।

प्राचीनतम आर्यों के जीविका उपार्जन साधन; कल्पवृक्ष---

जिनके पल्लव रूपी वस्त्र मन्द सुगन्धित वायु के द्वारा हमेशा हिलते रहते हैं। ऐसे सदा प्रकाशमान रहने वाले वहाँ के कल्पवृक्ष अत्यन्त शोभायमान रहते हैं। सुषमा- सुषमा नामक काल के प्रभाव से उत्पन्न हुई क्षेत्र की सामर्थ्य से वृद्धी को प्राप्त हुए वे कल्पवृक्ष वहाँ के जीवों को मनोवांछित पदार्थ देने के लिए सदा समर्थ रहते हैं। वे कल्पवृक्ष पुण्यात्मा पुरुषों को मन चाहे भोग देते रहते हैं इसीलिए जानकार पुरुषों ने उनका नाम 'कल्पवृक्ष' 'यह नाम सार्थक ही कहा है। वे कल्पवृक्ष दस प्रकार के हैं- 1. मद्याङ्ग, 2. तुर्याङ्ग, 3. विभूषाङ्ग, 4. सगङ्ग (माल्याङ्ग), 5. ज्योतिरङ्ग, 6. दीपाङ्ग, 7. गृहाङ्ग, 8. भोजनाङ्ग, 9. पात्राङ्ग, 10. वस्त्राङ्ग। वे सब अपने -अपने नाम के अनुसार ही कार्य करते हैं।

आर्यों की मृत्यु के कारण एवं स्वर्ग गमन

तथा भुक्ता चिरं भोगान् स्व पुण्य परिपाक जान्।
स्वायुरन्ते विलीयन्ते ते घना इव शारदा:।(41)

इस प्रकार वहाँ के मनुष्य अपने पूर्व पुण्य के उदय से चिरकाल तक भोगों को भोग कर आयु समाप्त होते ही शरद ऋतु के मेघों के समान विलिन हो जाते हैं।

जृभिकारम्भ मात्रेण तत्कालोत्थ श्रुतेन वा।
जीवितान्ते तनुं त्यक्त्वा ते दिवं यान्त्यनेनसः।(42)

आयु के अन्त में पुरुष को जम्हाई आती है और स्त्रि को छींक। उसी से पुण्यात्मा पुरुष अपना- अपना शरीर छोड़कर स्वर्ग चल जाते हैं।

स्वभावमार्दवायोगवक्रतादिगुणैर्युता :।
भद्रकास्त्रिदिवं यान्ति तेषां नान्या गतिस्ततः।(43)

उस समय के मनुष्य स्वभाव से ही कोमल- परिणामी होते हैं, इसीलिए वे भद्र पुरुष मरकर स्वर्ग ही जाते हैं। स्वर्ग के सिवाय और कोई गति नहीं होती। देवकुरु की समरत विधि उत्तर कुरु के समान समझना चाहिए।

मध्यम भोग भूमि

ततो यथा क्रमं तस्मिन् काले गलति मन्दताम्।
यातासु वृक्ष वीर्यायु शरीरोत्सेध वृतिषु।(45)
सुषमा लक्षणः कालो द्वितियः समवर्त्तत।
सागरोपम कोटीनां तिरन्तः कोट्योऽस्यसंमितिः।(46)

इसके अनन्तर जब क्रम- क्रम से प्रथम काल पूर्ण हुआ और कल्पवृक्ष, मनुष्यों का बल, आयु तथा शरीर की ऊँचाई आदि सब घटती को प्राप्त हो चले तब सुषमा नामक दूसरा काल प्रवृत्त हुआ। इसका प्रमाण तीन कोड़ा- कोड़ी सागर था।

तदास्मिन् भारते वर्षे मध्यभोगभुवां स्थितिः।
जायते स्म परां भूतिं तन्वाना कल्प पादपैः।(47)

उस समय इस भारत वर्ष में कल्पवृक्षों के द्वारा उत्कृष्ट विभूति को विस्तृत करती हुई मध्यम भोग भूमि की अवस्था प्रचलित हुई।

तदा मर्त्या हृमत्यामा द्विपल्योपम जीविताः।
चतुःसहस्रत्रचापोद्यविग्रहाः शुभचेष्टिताः।(48)

उस वर्क यहाँ के मनुष्य देवों के समान कान्ति के धारक थे, उनकी आयु दो पल्य की थी, उनका शरीर चार हजार धनुष ऊँचा था तथा उनकी सभी चेष्टाएँ शुभ थी।

कलाधर कलास्पद्धि देह ज्योत्स्नास्मितोज्ज्वलाः।
दिनद्वयेन तेऽशनन्ति वार्कमन्धोऽक्ष मात्रकम्।(49)

उनके शरीर की कान्ति चन्द्रमा की कलाओं के साथ स्पर्धा करती थी, अर्थात उनसे भी कहीं अधिक सुन्दर थी, उनकी मुरकान बड़ी ही उज्ज्वल थी। वे दो दिन बाद कल्पवृक्ष से प्राप्त हुए बहेड़े के बराबर उत्तम अन्न खाते थे।

शेषो विधिस्तु निशेषो हरिवर्ष समो मतः।
ततः क्रमेण कालेऽस्मिन् नवसर्पत्यनुक्रमात्।(50)
प्रहीणा वृक्षवीर्यादि विशेषाः प्राक्तना यदा।
जघन्य भोगभूमीनां मर्यादाविरभूत्तदा।(51)

उस समय यहाँ की शेष सब व्यवस्था हरि क्षेत्र के समान थी। फिर क्रम से जब द्वितीय काल पूर्ण हो गया और कल्पवृक्ष तथा मनुष्यों के बल, विक्रम आदि घट गये तब जघन्य भोग भूमि की व्यवस्था प्रकट हुई।

जघन्य भोग भूमि

यथावसरसं प्रामस्तृतीयः कालं पर्ययः।
प्रावर्तत सुराजेव स्वां मर्यादामलङ्घयन्।(52)

उस समय न्यायवान राजा के सदृश मर्यादा का उलंघन नहीं करता। हुआ तीसरा सुषमा दुःषमा नामका काल यथा-क्रम से प्रवृत् हुआ।

सागरोपम कोटीनां कोट्यौ द्वे लब्ध संस्थितौ।
कालेऽस्मिन भारते वर्षे मर्त्याः पल्योपमायुषः ॥(53)॥
गव्युति प्रमितोच्छ्रायाः प्रियद्वृश्याम विग्रहाः।
दिनान्तरेण संप्राप्त धात्री फलमिताशनाः ॥(54)॥

उनकी स्थिति दो कोड़ा कोड़ी सागर की थी। उस समय इस भारतवर्ष में मनुष्यों की स्थिति एक पल्य की थी। उनके शरीर एक कोश ऊँचे थे। वे प्रियद्वृ द्वारा समान श्याम वर्ण के थे और एक दिन के अन्तर से आंवले के बराबर भोजन ग्रहण करते थे।

सूर्य, चन्द्र का दर्शन

इस प्रकार क्रम-क्रम से तीसरा काल व्यतीत होने पर जब इसमें पल्य का आठवां भाग शेष रह गया तब कल्पवृक्षों की सामर्थ्य घट गयी और ज्योतिरङ्ग जाति के कल्पवृक्षों का प्रकाश अत्यन्त मन्द हो गया।

पुष्पवन्तावथाषाढयां पौर्णमास्यां स्फुरत्प्रभौ।
सायाहोद्दि प्रादुरास्तां तौ गगनोभयभागयोः ॥(57)॥

तदुन्तर किसी समय आषाढ़ सुदी पूर्णिमा के दिन सायं काल के समय आकाश के दोनों भागों में अर्थात् पूर्व दिशा में उदित होता हुआ चमकीला चन्द्रमा और पश्चिम में अस्त होता हुआ सूर्य दिखलाई पड़ा। उस समय वे सूर्य और चन्द्रमा ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानों आकाश रूपी समुद्र में सोने के बने हुए दो जहाज ही हो अथवा आकाश रूपी हस्ती के गण्डस्थल के समीप सिन्दुर से बने हुए दो चन्द्रक (गोलाकार चिन्ह) ही हो। अथवा पूर्णिमारूपी स्त्री के दोनों हाथों पर रखे हुए खेलने के मनोहर लाख निर्मित दो गोले ही हो। अथवा आगे होने वाले दुःषमासुषमा नामक काल रूपी नवीन राजा के प्रवेश के लिए जगत्-रूपी घर के विशाल दरवाजे पर रखे हुए मानों

दो सुवर्ण कलश ही हों। अथवा तारा रूपी फेन और बुद्ध, मंगल आदि गृह रूपी मगरमच्छों से भरे हुए आकाश रूपी समुद्र के मध्य में सुवर्ण के दो मनोहर जल क्रीड़ा गृह ही बने हों।

समाज सुधारक-महापुरुष

(1) प्रतिश्रुति कुलकर -

उस समय वहाँ प्रतिश्रुति नाम से प्रसिद्ध पहले कुलकर विद्यमान थे जो कि सबसे अधिक तेजस्वी थे और प्रजाजनों के नेत्र के समान शोभायमान थे अर्थात् नेत्र के समान प्रजाजनों को हितकारी मार्ग बतलाते थे। जिनेन्द्र देव ने उनकी आयु पल्य के दसवें भाग और ऊँचाई एक हजार आठ सौ धनुष बतलायी है। उनके मर्स्तक पर प्रकाशमान मुकुट शोभायमान हो रहा था, कानों में सुवर्णमय कुण्डल चमक रहे थे और वे स्वयं मेरु पर्वत के समान ऊँचे थे इसीलिए उनके वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ रत्नों का हार झरने के समान मालूम होता था। उनका उन्नत और श्रेष्ठ शरीर नाना प्रकार के आभूषणों की कान्ति के भार से अतिशय प्रकाशमान हो रहा था, उन्होंने अपने बढ़ते हुए तेज से सूर्य को भी तिरस्कृत कर दिया था। वे बहुत ही ऊँचे थे इसीलिए ऐसे मालूम होते थे मानों जगत रूपी घर की ऊँचाई को नापने के लिए खड़े किये गये मापदण्ड ही हों। इसके सिवाय वे जन्मान्तर के संस्कार से प्राप्त हुए अवधिज्ञान को भी धारण किये हुये थे इसीलिए वहीं सबसे उत्कृष्ट बुद्धिमान् गिने जाते थे। वे दैदीप्यमान दातों की किरणों रूपी जल से दिशाओं का बार-2 प्रक्षालन करते हुए जब प्रजा को सन्तुष्ट करने वाले वचन बोलते थे तब ऐसे मालूम होते थे मानों अमृत का रस ही प्रकट कर रहे हों। पहले कभी नहीं दिखने वाले सूर्य और चन्द्रमा को देखकर भयभीत हुए भोग भूमिज मनुष्यों को उन्होंने उनको निम्न लिखित स्वरूप

बतलाकर भयरहित किया था। उन्होंने कहा- हे भद्र पुरुषों, तुम्हें जो ये दिख रहे हैं वे सूर्य, चन्द्रमा नाम के ग्रह हैं, ये महाकान्ति के धारक हैं तथा आकाश में सर्वदा धूमते रहते हैं। अभी तक इनका प्रकाश ज्योतिरङ्ग जाति के कल्पवृक्षों के प्रकाश से तिरोहित रहता था इसलिए नहीं दिखते थे परन्तु अब चूँकि कालदोष के वश से ज्योतिरङ्ग वृक्षों का प्रभाव कम हो गया है अतः दिखने लगे हैं। इनसे तुम लोगों को कोई भय नहीं है अतः भयभीत नहीं होओ। प्रतिश्रुति के इन वचनों से उन लोगों को बहुत ही आश्वासन हुआ। इसके बाद प्रतिश्रुति ने इस भरत क्षेत्र में होने वाली व्यवस्था का निरूपण किया। इन धीर-वीर प्रतिश्रुति ने हमारे वचन सुने हैं इसलिए प्रसन्न होकर उन भोग भूमिजों ने प्रतिश्रुति इसी नाम से स्तुति की और कहा कि- अहो महा भाग, अहो बुद्धिमान, आप चिरंजीव रहें तथा हम पर प्रसन्न हों क्योंकि आपने हमारे दुःख रूपी समुद्र में नौका का काम किया है अर्थात् हित का उपदेश देकर हमें दुःख रूपी समुद्र से उद्धृत किया है। इस प्रकार प्रतिश्रुति का स्तवन तथा बार-2 सत्कार कर वे सब आर्य उनकी आज्ञानुसार अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ अपने - अपने घर चले गये।

(2) सन्मति कुलकर -

इसके बाद क्रम-क्रम से समय के व्यतीत होने तथा प्रतिश्रुति कुलकर के स्वर्गवास हो जाने पर जब असंख्यात करोड़ वर्षों का मन्वन्तर (एक कुलकर के बाद दूसरे कुलकर के उत्पन्न होने तक बीच का काल) व्यतीत हो गया। तब समीचीन बुद्धि के धारक सन्मति नाम के द्वितीय कुलकर का जन्म हुआ। उनके वस्त्र बहुत ही शोभायमान थे तथा वे स्वयं अत्यन्त ऊँचे थे इसलिए चलते फिरते कल्पवृक्ष के समान मालुम होते थे। उनके केश बड़े ही सुन्दर थे, वे अपने मर्स्तक पर मुकुट बाँधे हुए थे, कानों में कुण्डल पहिने थे, उनका वक्षः स्थल हार से सुशोभित था, इन सब कारणों से वे अत्यंत शोभायमान हो रहे थे। उनकी आयु अम्म के बराबर संख्यात वर्षों की थी और शरीर की ऊँचाई एक हजार तीन सौ धनुष थी। इनके समय में ज्योतिरङ्ग जाति के कल्पवृक्षों की प्रभा बहुत ही मन्द पड़ गयी थी तथा

उनका तेज बुझते हुए दीपक के समान नष्ट होने के सम्मुख ही था।

नभोऽङ्गणमथापूर्य तारकाः प्रचकाशिरे।
नात्यन्धकारकलुषांवेलां प्राप्य तमीमुखे।(81)

एक दिन रात्रि के प्रारम्भ में जब थोड़ा-थोड़ा अन्धकार था तब तारागण आकाश रूपी अङ्गण को व्याप कर सब ओर प्रकाशमान होने लगे।

अकर्स्मात् तारका दृष्ट्वासंभ्रान्तान् भोगभूभुवः।
भीतिर्विचलयाभास प्राणीहत्येव योगिनः।(82)

उस समय अकर्स्मात् तारों को देखकर भोग भूमिज मनुष्य अत्यन्त भ्रम में पड़ गये अथवा अत्यन्त व्याकुल हो गये। उन्हें भय ने इतना कम्पायमान कर दिया, जितना कि प्राणियों की हिंसा मुनिजनों को कम्पायमान कर देती है।

स सन्मतिरनुध्याय क्षणं प्रावोच तार्यकान्।
नोत्पातः कोऽप्ययं भद्रास्तन्भागात भियोवशम्।(83)

सन्मति कुलकर ने क्षण भर विचार कर उन आर्य पुरुषों से कहा कि, हे भद्र पुरुषों! यह कोई उत्पात नहीं है इसलिए आप व्यर्थ ही भय के वशीभूत न हों। ये तारे हैं, यह नक्षत्रों का समूह हैं, ये सदा प्रकाशमान रहने वाले सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह हैं और यह तारों से भरा हुआ आकाश है। यह ज्योति चक्र सर्वदा आकाश में विद्यमान रहता है, अब से पहले भी विद्यमान था, परन्तु ज्योतिरङ्ग जाति के वृक्षों के प्रकाश से तिरोभूत था। अब उन वृक्षों की प्रभा क्षीण हो गयी है इसीलिए स्पष्ट दिखायी देने लगा है। आज से लेकर सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि का उदय और अस्त होता रहेगा और उससे रात-दिन का विभाग होता रहेगा। उन बुद्धिमान सन्मति ने सूर्य ग्रहण, चन्द्र ग्रहण, ग्रहों का एक राशि से दूसरी राशि पर जाना, दिन और अयन आदि का संक्रमण बतलाते हुए ज्योतिष विद्या के मूल कारणों का भी उल्लेख किया था। वे आर्य लोग भी उनके वचन सुनकर शीघ्र ही भय रहित हो गये। वास्तव

मैं वे सन्मति प्रजा का उपकार करने वाली कोई सर्वश्रेष्ठ ज्योति ही थे। समीचीन बुद्धि के देने वाले यह सन्मति ही हमारे स्वामी हैं। इस प्रकार उनकी प्रशंसा और पूजा कर वे आर्य पुरुष अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

(3) क्षेमंकर मनु -

इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल काल बीत जाने पर इस भरत क्षेत्र में क्षेमंकर नाम के तीसरे मनु हुए। उनकी भुजाएँ युग के समान लम्बी थी। शरीर ऊँचा था, वक्षः स्थल विशाल था, आभा चमक रही थी तथा मर्स्तक मुकुट से शोभायमान था। इन सब बातों से वे मेरु पर्वत से भी अधिक शोभायमान हो रहे थे। इस महाप्रतापी मनु की आयु अटट बराबर थी और शरीर की ऊँचाई आठ सौ धनुष की थी।

पुरा किल मृगा भद्राः प्रजानां हस्तलालिताः।
तदा तु विकृति भेजुव्यात्तास्याः भीषणस्वनाः॥(93)॥

पहले जो पशु, सिंह, व्याघ्र आदि अत्यन्त भद्र परिणामी थे जिनका लालन पालन प्रजा अपने हाथ से ही किया करती थी वे अब इनके समय विकार को प्राप्त होने लगे-मुँह फाड़ने लगे और भयंकर शब्द करने लगे।

तेषा विक्रियया सान्तर्गज्या तत्रसुः प्रजाः।
पप्रच्छुरते तमभ्येत्य मनुं स्थितमविस्मित्तम्॥(94)॥

उनकी इस भयंकर गर्जना से मिले हुए विकार भाव को देखकर प्रजा जन डरने लगे तथा बिना किसी आश्चर्य के निश्चल बैठे हुए क्षेमंकर मनु के पास जाकर उनसे पूछने लगे।

इमे भद्रमृगाः पूर्व स्वादीयोभिस्तृणाङ्कृैः।
रसायनरसैः पुष्टाः सरसां सलिललैरपि॥(95)॥
अङ्गाधिरोपणैर्हस्तलालनैरपि सान्विताः।
अरमाभिरति विश्रब्धाः संवसन्तोऽनुपद्रवाः॥(96)॥

इदानीं तु बिना हेतोः शृङ्गरभिमवन्ति नः।
दंष्टाभिर्नरवरागैश्च बिभित्सन्ति च दारुणाः॥(97)॥
कोऽभ्युपायो महाभाग ब्रूहि नः क्षेमसाधनम्।
क्षेमंकरो हि स भवान् जगतः क्षेमचिन्तनैः॥(98)॥

हे देव, सिंह, व्याघ्र आदि जो पशु पहले बड़े शान्त थे, जो अत्यन्त स्वादिष्ट धास खाकर और तालाबों का रसायन के समान रसीला पानी पीकर पुष्ट हुए थे, जिन्हे हम लोग अपनी गोदी में बैठाकर अपने हाथों से खिलाते थे, हम जिनपर अत्यन्त विश्वास करते थे और जो बिना किसी उपद्रव के हम लोगों के साथ- साथ रहा करते थे आज वे ही पशु बिना किसी कारण के हम लोगों को सींगों से मारते हैं, दाढ़ों और नखों सें हमें विदारण करना चाहते हैं और अत्यन्त भयंकर दिख पड़ते हैं। हे महाभाग, आप हमारा कल्याण करने वाला कोई उपाय बतलाइए। चूँकि आप सकल संसार का क्षेम- कल्याण सोचते रहते हैं इसीलिए सच्चे क्षेमंकर हैं। इस प्रकार उन आर्यों के वचन सुनकर क्षेमंकर मनु को भी उनमें मित्रभाव उत्पन्न हो गया और वे कहने लगे कि आपका कहना ठीक है। ये पशु पहले वास्तव में शान्त थे परन्तु अब भयंकर हो गये हैं इसीलिए इन्हें छोड़ देना चाहिए। ये काल के दोष से विकार को प्राप्त हुए हैं अब इनका विश्वास नहीं करना चाहिए। यदि तुम इनकी उपेक्षा करोगे तो ये अवश्य ही बाधा करेंगे।

इत्याकर्ण्य वचरस्तस्य परिजहुस्तदा मृगान्।
शृङ्गिणो दंष्ट्रिणः क्रूरान् शेषैः संवासमाययुः॥(101)॥

क्षेमंकर के उक्त वचन सुनकर उन्हें लोगों ने सींगवाले और दाढ़वाले दुष्ट पशुओं का साथ छोड़ दिया, केवल निरुपद्रवी गाय- भैंस आदि पशुओं के साथ रहने लगे।

(4) क्षेमंकर मनु -

क्रम-क्रम से समय बीतने पर क्षेमंकर मनु की आयु पूर्ण हो गयी। उसके बाद जब असंख्यात करोड़ वर्षों का मन्वन्तर व्यतीत हो गया तब

अत्यन्त ऊँचे शरीर के धारक, दोषों का निग्रह करने वाले और सज्जनों में अग्रसर क्षेमंकर नामक चौथे मनु हुए। उन महात्मा की आयु तुटिक प्रमाण वर्षों की थी और शरीर की ऊँचाई सात सौ पचहत्तर धनुष थी।

दुष्ट जीवों से रक्षा करने के उपाय:

यदा प्रबलतां याताः पाकसत्वा महाकृधः ।
तदा लकुट्यष्टयादैः स रक्षाविधिमन्वशात् ॥(105)॥

इनके समय में जब सिंह, व्याघ्र आदि दुष्ट पशु अतिशय प्रबल और क्रोधी हो गये तब इन्होंने लकड़ी लाठी आदि उपायों से इनसे बचने का उपदेश दिया। चूंकि इन्होंने दुष्ट जीवों से रक्षा करने के उपायों को देकर प्रजा का कल्याण किया था इसलिए इनका क्षेमंकर यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था।

(5) सीमंकर (कल्पवृक्षों की सीमा निर्धारक) -

इनके बाद पहले की भाँति फिर भी असंख्यात करोड़ वर्षों का मन्वन्तर पड़ा। फिर क्रम से प्रजा के पुण्योदय से सीमंकर नाम के कुलकर उत्पन्न हुए। इनका शरीर चित्र-विचित्र वस्त्रों तथा माला आदि से शोभायमान था। जैसे इन्द्र स्वर्ग की लक्ष्मी का उपयोग करता है वैसे ही यह भी अनेक प्रकार की भोगलक्ष्मी का उपयोग करते थे। महा बुद्धिमान आचार्यों ने उनकी आयु कमल प्रमाण वर्षों की बतलाई है तथा शरीर की ऊँचाई सात सौ पचास धनुष की। इनके समय में जब कल्पवृक्ष अल्प रह गये और फल भी अल्प देने लगे तथा इसी कारण से जब लोगों में विवाद होने लगा तब सीमंकर मनु ने सोच विचार कर वचनों द्वारा कल्पवृक्षों की सीमा नियत कर दी अर्थात् इस प्रकार की व्यवस्था कर दी की, इस जगह के कल्पवृक्ष से इतने लोग काम लें और उस जगह के कल्पवृक्ष से उतने लोग काम लें। प्रजा ने उक्त व्यवस्था से ही उन मनु का सीमंकर यह सार्थक नाम रख लिया था।

(6) सीमा चिन्हित करने वाला सीमन्धर -

इनके बाद पहले की भाँति मन्वन्तर व्यतीत होने पर सीमन्धर नाम

के छठे मनु उत्पन्न हुए। उनकी बुद्धि बहुत ही पवित्र थी वह नलिन प्रमाण आयु के धारक थे, उनके मुख और नेत्रों की कान्ति कमल के समान थी तथा शरीर की ऊँचाई सात सौ पच्चीस धनुष की थी। इनके समय में जब कल्पवृक्ष अत्यन्त थोड़े रह गये तथा फल भी बहुत थोड़े देने लगे और उस कारण से जब लोगों में भारी कलह होने लगा, कलह ही नहीं एक - दूसरे को बाल पकड़-पकड़कर मारने लगे तब उन सीमन्धर मनु ने कल्याण स्थापना की भावना से कल्पवृक्षों की सीमाओं को अन्य अनेक वृक्ष तथा छोटी - छोटी झाड़ियों से चिन्हित कर दिया था।

(7) पशु सवारी का उपदेशक 'विमलवाहन' -

इनके बाद फिर असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तर हुआ और कल्पवृक्ष की शक्ति आदि हर एक उत्तम वस्तुओं में क्रम-क्रम से घटती होने लगी तब मन्वन्तर को व्यतीत कर विमलवाहन नामके सातवें मनु हुए। उनका शरीर भोगलक्ष्मी से आलिङ्गित था, उनकी आयु पद्म - प्रमाण वर्षों की थी। शरीर सात सौ धनुष ऊँचा और लक्ष्मी से विभूषित था। इन्होंने हाथी, घोड़ा आदि सवारी के योग्य पशुओं पर कुठार, अंकुश, पलान, तोबरा आदि लगाकर सवारी करने का उपदेश दिया था।

(8) सन्तान को बनाने वाला 'चक्षुष्मान' -

इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल रहा। फिर चक्षुष्मान नाम के आठवें मनु उत्पन्न हुए, वे पद्माङ्ग प्रमाण आयु के धारक थे और छह-सौ पचहत्तर धनुष ऊँचे थे। उनके शरीर की शोभा बड़ी ही सुन्दर थी। इनके समय से पहले के लोग अपनी सन्तान का मुख नहीं देख पाते थे। उत्पन्न होते ही माता-पिता की मृत्यु हो जाती थी परन्तु अब वे क्षण भर पुत्र का मुख देखकर मरने लगे। उनके लिए यह नयी बात थी इसीलिए भय का कारण हुई। उस समय भयभीत हुए आर्य पुरुषों को चक्षुष्मान मनु ने यथार्थ उपदेश देकर उनका भय छुड़ाया था। चूंकि उनके समय माता-पिता अपने पुत्रों को क्षण-भर देख सकते थे इसलिए उनका चक्षुष्मान यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ।

(9) आशीर्वाद का उपदेशक 'यशस्वान' -

तदनन्तर करोड़ों वर्षों का अन्तर व्यतीत कर यशस्वान नामके नौवें मनु हुए। वे बड़े ही यशस्वी थे। उन महापुरुष की आयु कुमुद प्रमाण वर्षों की थी। उनके शरीर की ऊँचाई छह सौ पचास धनुष की थी। उनके समय से प्रजा अपनी सन्तानों का मुख देखने के साथ-साथ उन्हें आशीर्वाद देकर तथा क्षण - भर ठहर कर परलोक गमन करती थी - मृत्यु को प्राप्त होती थी। इनके उपदेश से प्रजा अपनी सन्तानों को आशीर्वाद देने लगी थी इसलिए उत्तम सन्तान वाली प्रजा ने प्रसन्न होकर इनका यश वर्णन किया इसी कारण उनका यशस्वान् यह सार्थक नाम पड़ गया था।

(10) चन्द्र दिखलाकर बच्चों के खेल सिखाने वाला 'अभिचन्द्र' -

इनके बाद करोड़ों वर्षों का अन्तर व्यतीत कर अभिचन्द्र नाम के दसवें मनु उत्पन्न हुए। उनका मुख चन्द्रमा के समान सौम्य था, कुमुदाङ्ग प्रमाण उनकी आयु थी, उनका मुकुट और कुण्डल अतिशय दैदीप्यमान था। वे छह सौ पच्चीस धनुष ऊँचे तथा दैदीप्यमान शरीर के धारक थे। यथायोग्य अवयवों में अनेक प्रकार के आभूषण रूप मंजरियों को धारण किये हुए थे। उनका शरीर महाकान्तिमान था और स्वयं पुण्य के फल से शोभायमान थे इसलिए फूले - फले तथा ऊँचे कल्पवृक्ष के समान शोभायमान होते थे। उनके समय प्रजा अपनी-अपनी सन्तानों का मुख देखने लगी, उन्हें आशीर्वाद देने लगी तथा रात के समय कौतुक के साथ चन्द्रमा दिखला-दिखला कर उनके साथ कुछ क्रीड़ा भी करने लगी उस समय प्रजा ने उनके उपदेश से चन्द्रमा के सम्मुख खड़ा होकर अपनी सन्तानों को क्रीड़ा करायी थी, उन्हें खिलाया था इसलिए उनका अभिचन्द्र यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ।

(11) जन आल्हादक 'चन्द्राभ' -

फिर उतना ही अन्तर व्यतीत कर चन्द्राभ नाम के ग्यारहवें मनु हुए। उनका मुख चन्द्रमा के समान था, ये समय की गतिविधि के जानने वाले थे इनकी आयु नयुत प्रमाण वर्षों की थी ये अनेक शोभायमान सामुद्रिक लक्षणों से उज्ज्वल थे। इनका शरीर छह सौ धनुष ऊँचा था तथा उदय

होते हुए सूर्य के समान दैदीप्यमान था। ये समस्त कलाओं-विद्याओं को धारण किये हुए थे, जनता को अतिशय प्रिय थे, तथा अपनी मन्द मुर्कान से सबको आल्हादित करते थे इसलिए उदित होते ही सोलह कलाओं को धारण करने वाले लोकप्रिय और चन्द्रिका से युक्त चन्द्रमा के समान शोभायमान होते थे। इनके समय में प्रजाजन अपनी सन्तानों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न तो होते ही थे, परन्तु कुछ दिनों तक उनके साथ जीवित भी रहने लगे थे, तदनन्तर सुखपूर्वक परलोक को प्राप्त होते थे। उन्होंने चन्द्रमा के समान सब जीवों को आल्हादित किया था इसलिए उनका चन्द्राभ यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था।

(12) नौका, सीढ़ी के उपदेशक मरुद्वेष -

तदनन्तर अपने योग्य अन्तर को व्यतीत कर प्रजा के नेत्रों को आनन्द देने वाले, मनोहर शरीर के धारक मरुद्वेष नाम के बारहवें कुलकर उत्पन्न हुए। उनके शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पचहत्तर धनुष की थी और आयु नयुत प्रमाण वर्षों की थी। वे सूर्य के समान दैदीप्यमान थे अथवा वह स्वयं ही एक विलक्षण सूर्य थे, क्योंकि सूर्य के समान तेजस्वी होने पर भी लोग उन्हें सुखपूर्वक देख सकते थे जब कि, चकाचौंध के कारण सूर्य को कोई देख नहीं सकता। सूर्य के समान उदय होने पर भी वे कभी अस्त नहीं होते थे- उनका कभी पराभव नहीं होता था जबकि सूर्य अस्त हो जाता है और जमीन में स्थित रहते हुए भी वे आकाश को प्रकाशित करते थे जबकि सूर्य आकाश में स्थित रहकर ही उसे प्रकाशित करता है (पक्ष में वस्त्रों से शोभायमान थे)

संतान के साथ सह जीवित आर्य :-

तरय काले प्रजा दीर्घ प्रजामि: र्वाभिरन्विताः।

प्राणिपुरस्तन्मुखालोकतदङ्गर्पश्नोत्सवैः।(142)।

स त दुच्छवसितं यस्मात् तदायत्तरस्वजीविकाः।

प्रजा जीवन्ति तेनाभिर्मरुद्वेष इतीरितः।(143)।

इनके समय में प्रजा अपनी-अपनी सन्तानों के साथ बहुत दिनों तक जीवित रहने लगी थी तथा उनके मुख देखकर और शरीर को स्पर्श कर सुखी होती थी। वे मरुदेव ही वहाँ के लोगों के प्राण थे क्योंकि उनका जीवन मरुदेव के ही आधीन था अथवा यों समझिए कि वे उनके द्वारा ही जीवित रहते थे इसलिए प्रजा ने उन्हें मरुदेव इस सार्थक नाम से पुकारा था।

वर्षारंभ एवं नदियों की उत्पत्ति :-

नौद्रोणीसंक्रमादीनि जलदुर्गेष्वकारयत् ।
गिरिदुर्गेषु सोपानपद्धतीः सोऽधिराहणे ॥ (144) ॥

तस्यैव काले [काले तस्यैव] कुतश्चैलाः कुसमुद्राः कुनिम्नगाः ।
जाताः सासारमेघाश्च किंराजान इवास्थिराः ॥ (145) ॥

इन्हीं मरुदेव ने उस समय जलरूप दुर्गम स्थानों में गमन करने के लिए छोटी- बड़ी नाव चलाने का उपदेश दिया था तथा पहाड़ रूप दुर्गम स्थान पर चढ़ने के लिए इन्होंने सीढ़ियाँ बनवायी थी। इन्हीं के समय में अनेक छोटे- छोटे पहाड़, उपसमुद्र तथा छोटी-छोटी नदियाँ उत्पन्न हुई थीं तथा नीच राजाओं के समान अस्थिर रहने वाले मेघ भी जब कभी बरसने लगे थे।

(13) बच्चों से जरायु हटाने का उपदेशक 'प्रसेनजित' -

इनके बाद समय व्यतीत होने पर जब कर्मभूमि की स्थिति धीरे-धीरे समीप आ रही थी - अर्थात् कर्मभूमि की रचना होने के लिए जब थोड़ा ही समय बाकी रह गया था तब बड़े प्रभावशाली प्रसेनजित् नाम के तेरहवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु एक पूर्व प्रमाण थी और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पचास धनुष की थी। वे प्रसेनजित महाराज मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए प्रजा के तीसरे नेत्र के समान थे, अज्ञान रूपी दोष से रहित थे और उदय होते ही पद्मा-लक्ष्मी के करग्रहण से अतिशय शोभायमान थे, इन सब बातों से वे सूर्य के समान मालूम होते थे क्योंकि सूर्य भी मार्ग दिखाने के लिए तीसरे नेत्र के समान होता है, अन्धकार से रहित होता है और

उदय होते ही कमलों के समूह को आनंदित करता है। इनके समय में बालकों की उत्पत्ति जरायु से लिपटी हुई होने लगी अर्थात् उत्पन्न हुए बालकों के शरीर पर मांस की एक पतली झिल्ली रहने लगी। इन्होंने अपनी प्रजा को उस जरायु के खींचने अथवा फाड़ने आदि का उपदेश दिया था। मनुष्यों के शरीर पर जो आवरण होता है उसे जरायु पटल अथवा प्रसेन कहते हैं। तेरहवें मनु ने उसे जीतने दूर करने आदि का उपदेश दिया था इसीलिए वे प्रसेनजित कहलाते थे। अथवा 'प्रसा' शब्द का अर्थ प्रसूति - जन्म लेना है तथा 'इन' शब्द का अर्थ स्वामी होता है। जरायु उत्पत्ति को रोक लेती है अतः उसी को प्रसेन - जन्म का स्वामी कहते हैं (प्रसा+इन=प्रसेन) इन्होंने उस प्रसेन के नष्ट करने अथवा जीतने का उपाय बतलाये थे इसीलिए इनका प्रसेनजित नाम पड़ा था।

(14) बालक के नाभिनाल काटने के उपदेशक 'नाभिराय' -

इनके बाद ही नाभिराज नाम के कुलकर हुए थे, ये महा बुद्धिमान थे। इनमें पूर्ववर्ति युग - श्रेष्ठ कुलकरों ने जिस लोक व्यवस्था के भार को धारण किया था यह भी उसे अच्छी तरह धारण किये हुए थे। उनकी आयु एक करोड़ पूर्व की थी और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष थी। इनका मर्तक मुकुट से शोभायमान था और दोनों कान कुण्डलों से अलंकृत थे इसलिए वे नाभिराज उस मेरु पर्वत के समान शोभायमान हो रहे थे जिसका ऊपरी भाग दोनों तरफ धूमते हुए सूर्य और चन्द्रमा से शोभायमान हो रहा है। उनका मुख कमल अपने सौन्दर्य से गर्वपूर्वक पूर्णमासी के चन्द्रमा का तिरस्कार कर रहा था तथा मन्द मुस्कान से जो दाँतों की किरणें निकल रही थीं वे उसमें केसर की भाँति शोभायमान हो रही थीं। जिस प्रकार हिमवान् पर्वत गङ्गा के जल - प्रवाह से युक्त अपने तट को धारण करता है उसी प्रकार नाभिराज अनेक आभरणों से उज्ज्वल और रत्नहार से भूषित अपने वक्षस्थल को धारण कर रहे थे। वे उत्तम अँगुलियों और हथेलियों से युक्त जिन दो भुजाओं को धारण किये हुए थे वे ऊपर को फण उठाये हुए सर्पों के समान शोभायमान हो रहे थे तथा बाजूबन्दों से सुशोभित उनके दोनों

कन्धे ऐसे मालूम होते थे मानो सर्पसहित निधियों के दो घोड़े ही हों। वे नाभिराज जिस कटि भाग को धारण किये हुए थे वह अत्यन्त सुदृढ़ और स्थिर था, उसके अस्थिबन्ध वज्रमय थे तथा उनके पास ही सुन्दर नाभि शोभायमान हो रही थी उस कटि भाग को धारण कर वे ऐसे मालूम होते थे मानो मध्यलोक को धारण कर उर्ध्व और अधोभाग में विस्तार को प्राप्त हुआ लोस्कन्ध ही हों। वे करधनी से शोभायमान कमर को धारण किये थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो सब और फैले हुए रत्नों से युक्त दीप धारण किये हुए समुद्र ही हों। वे वज्र के समान मजबूत गोलाकार और एक दूसरे से सटी हुई जिन जंघाओं को धारण किये हुए थे वे ऐसी मालूम होती थी मानो जगदरूपी घर के भीतर लगे हुए दो मजबूत खम्बे हों। उनके शरीर का उर्ध्व भाग वक्षःस्थल रूपी शिला से युक्त होने के कारण अत्यन्त वजनदार था। वे जिस चरण तल को धारण किये हुए थे वह चन्द्र, सूर्य, नदी, समुद्र, मच्छ, कच्छप आदि अनेक शुभ लक्षणों से सहित था जिससे वह ऐसा मालूम होता था मानो यह चर-अचर रूप सभी संसार सेवा करने के लिए उसके आश्रय में आ पड़ा हो। इस प्रकार स्वाभाविक मधुरता और सुन्दरता से बना हुआ नाभिराज का जैसा शरीर था मैं मानता हूँ कि वैसा शरीर देवों के अधिपति इन्द्र को भी मिलना कठिन है।

बालक के नाभिनाल की उत्पत्ति :-

तस्य काले सुतोत्पत्तौ नाभिनालमदृश्यत ।
स तत्रिकर्तनोपायमादिशन्नाभिरित्यमूत ।(164)।

इनके समय में उत्पन्न होते वक्त बालक की नाभि में नाल दिखायी देने लगा था और नाभिराज ने उसके काटने की आज्ञा दी थी इसलिए इनका नाम नाभि, यह सार्थक नाम पड़ गया था।

भारत की प्रथम वर्षा-

तस्यैव काले जलदाः कालिकाकर्बुरत्विषः ।
प्रादुरासन्नभोभागे सान्द्राः सेन्द्रशरासनाः ।(165)।
(आ.पु.पु.60)

उन्हीं के समय आकाश में कुछ सफेदी लिए हुए काले रंग के सघन मेघ प्रकट हुए थे। वे सब मेघ इन्द्रधनुष से सहित थे।

नमो नीरन्धमारुन्धञ्जूमेऽभोमुचां चयः ।
कालादुद्भूतसामथ्यैरान्धः सूक्ष्मपुद्गलैः ।(166)।

उस समय काल के प्रभाव से पुद्गल परमाणुओं में मेघ बनाने की सामर्थ्य उत्पन्न हो गई थी, इसलिए सूक्ष्म पुद्गलों द्वारा बने हुए मेघों के समूह छिद्ररहित लगातार समर्त आकाश को घेर कर जहाँ-तहाँ फैल गये थे।

वे मेघ बिजली से युक्त थे, गम्भीर गर्जना कर रहे थे और पानी बरसा रहे थे जिससे ऐसे शोभायमान होते थे मानो सुवर्ण की मालाओं से सहित, मद बरसाने वाले और गरजते हुए हस्ती ही हों। उस समय मेघों की गम्भीर गर्जना से टकरायी हुई पहाड़ों की दीवालों से जो प्रतिध्वनि निकल रही थी उससे ऐसा मालूम होता था मानो वे पर्वत की दीवालें कुपित होकर प्रतिध्वनि के बहाने आक्रोश वचन (गालियाँ) ही कह रही हों। उस समय मेघमाला द्वारा बरसाये हुए जलकणों को धारण करने वाला-ठण्डा वायु मयूरों के पंखों को फैलाता हुआ बह रहा था। आकाश में बादलों का आगमन देखकर हर्षित हुए चातक पक्षी मनोहर शब्द बोलने लगे और भौंरों के समूह अकरमात् ताण्डव नृत्य करने लगे। उस समय धारा प्रवाह बरसते हुए मेघों के समूह ऐसे मालूम होते थे मानो जिनसे धातुओं के निझर निकल रहे हैं ऐसे पर्वतों का अभिषेक करने के लिए तत्पर हुए हों। पहाड़ों पर कहीं-कहीं गेरु के रंग से लाल हुए नदियों के जो पूर बड़े वेग से बह रहे थे वे ऐसे मालूम होते थे मानो मेघों के प्रहार से निकले हुए पहाड़ों के रक्त के प्रवाह ही हों। वे बादल गरजते हुए मोटी धार से बरस रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कल्पवृक्षों का क्षय हो जाने से शोक से पीड़ित हो रुदन ही कर रहे हों- रो रोकर आँसू बहा रहे हों। वायु के आघात से उन मेघों से ऐसा गम्भीर शब्द होता था मानों बजाने वाले के हाथ की चोट से मृदङ्ग का ही शब्द हो रहा हो उसी समय आकाश में बिजली चमक रही थी, जिससे

ऐसा मालूम होता था मानो आकाशरुपी रङ्गभूमि में अनेक रूप धारण करती हुई तथा क्षण क्षण में यहाँ-वहाँ अपना शरीर घुमाती हुई कोई नदी नृत्य कर रही हो। उस समय चातक पक्षी ठीक बालकों के समान आचरण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार बालक पयोधर-माता के स्तन में आसक्त होते हैं उसी प्रकार चातक पक्षी भी पयोधर-मेघों में आसक्त थे, बालक जिस तरह कठिनाई से प्राप्त हुए पय दूध को पीते हुए तृप्त नहीं होते, उसी प्रकार चातक पक्षी भी कठिनाई से प्राप्त हुए पय-जल को पीते हुए तृप्त नहीं होते थे, और बालक जिस प्रकार माता से प्रेम रखते हैं उसी प्रकार चातक पक्षी भी मेघों से प्रेम रखते थे अथवा वे बादल पामर मनुष्यों के समूह के समान आचरण करते थे क्योंकि जिस प्रकार पामर मनुष्य स्त्री में आसक्त हुआ करते हैं उसी प्रकार वे भी बिजलीरुपी स्त्री में आसक्त थे, पामर मनुष्य जिस प्रकार खेती के योग्य वर्षाकाल की अपेक्षा रखते हैं उसी प्रकार वे भी वर्षाकाल की अपेक्षा रखते थे, पामर मनुष्य जिस प्रकार महाजड़ अर्थात् महामूर्ख होते हैं उसी प्रकार वे भी महाजल अर्थात् भारी जल से भरे हुए थे (संस्कृत साहित्य में श्लेष आदि के समय ड़ और ल में अभेद होता है) और पामर मनुष्य जिस प्रकार खेती करने में तत्पर रहते हैं उसी प्रकार मेघ भी खेती कराने में तत्पर रहते थे।

वर्षा होने का वैज्ञानिक कारण-

अबुद्धिपूर्वमुत्सृज्य वृष्टिं सद्यः पयोमुचः।
नैकधा विक्रियां भेजुवैचित्र्यात् पुद्गलात्मनः। (178)

यद्यपि वे बादल बुद्धिरहित थे तथापि पुद्गल परमाणुओं की विचित्र परिणति होने के कारण शीघ्र ही बरस कर अनेक प्रकार की विकृति को प्राप्त हो जाते थे।

उस समय मेघों से जो पानी की बूँदे गिर रही थी वे मोतियों के समान

सुन्दर थी तथा उन्होंने सूर्य की किरणों के ताप से तपी हुई पृथ्वी को शान्त कर दिया था।

भारत में वनस्पति की प्रथम उत्पत्ति-

ततोऽब्दमुक्तवारिक्षमाखानिलातयगोचरान्।

क्लेदाधारावगाहन्तर्नीहारोप्मत्वलक्षणान्। (180)

गुणनाश्रित्य सामग्रीं प्राप्य द्रव्यादिलक्षणाम्।

संरुढान्यङ्कुरावस्थाप्रभृत्याकणिशासितः। (181)

शनैश्शनैर्विवृद्धानि क्षेत्रेष्वविरलं तदा।

सरयान्यकृष्टपच्यानि नानाभेदानि सर्वतः। (182)

प्रजानां पूर्वसुकृतात् कालादपि च ताटशात्।

सुपक्नानि यथाकालं फलदायीनि रेजिरे। (183)

इसके अनन्तर मेघों से पड़े हुए जल की आद्रता, पृथ्वी का आधार, आकाश का अवगाहन, वायु का अन्तर्नीहार अर्थात् शीतल परमाणुओं का संचय करना और धूप की उष्णता इन सब गुणों के आश्रय से उत्पन्न हुई द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूपी सामग्री को पाकर खेतों में अनेक अंकुर पैदा हुए, वे अंकुर पास-पास जमे हुए थे तथापि अन्कुर अवस्था से लेकर फल लगने तक निरन्तर धीरे-धीरे बढ़ते जाते थे। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार के धान्य बिना बोये ही सब ओर पैदा हुए थे। वे सब धान्य प्रजा के पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के उदय से अथवा उस समय के प्रभाव से ही समय पाकर पक गये तथा फल देने के योग्य हो गये। जिस प्रकार पिता के मर जाने के बाद उनके स्थान पर आरुढ़ होता है उसी प्रकार कल्पवृक्षों का अभाव होने पर ये धान्य उनके स्थान पर आरुढ़ हुए थे।

तातकालिन वर्षा-

नातिवृष्टिरवृष्टिर्वा तदासीत् किंतु मध्यमा।

वृष्टिस्तत्सर्वधान्यानां फलावासिरविप्लुता। (185)

उस समय न तो अधिक वृष्टि होती थी और न कम, किन्तु मध्यम दरजे की होती थी इसलिए सब धान्य बिना किसी विधन बाधा के फलसहित हो गये थे।

तात्कालिक धान्य-

षाष्ठिका:	कलमवीहियवगोधुमकङ्गवः।
श्यामाकको द्रवोदार	नीवारवरका रत्था ॥(186)॥
तिलातस्यौ मसूराश्च	रर्षषो धान्यजीरके।
मुद्गमाषा ढको राज माष	निष्पावकाश्णाः ॥(187)॥
कुलित्थत्रिपुटौ चेति धान्य भेदास्त्विमे मताः।	
सकुसुम्भाः सकर्पसाः प्रजाजीवनहेतवः ॥(188)॥	

साठी, चावल, कलम, ब्रीहि, जौ, गेहूँ, कांगनी, सामा, कोदो, नीवार (तिनी), बटाने, तिल, अलसी, मसूर, सरसों, धनियाँ, जीरा, मूँग, उड्ड, अरहर, रोंसा, मोठ, चना, कुलथी, और तेवरा आदि अनेक प्रकार के धान्य तथा कुसुम्भ (जिसकी कुसुमानी-लाल रंग बनता है) और कपास आदि प्रजा की आजीविका के हेतु उत्पन्न हुए थे।

भूख से व्याकुलित प्रजा-

उपभोग्येषु धान्येषु सत्स्वप्येषु तदा प्रजाः।
तदुपायमजानानाः स्वतोऽमूर्त्सुहुः मुहुः ॥(189)॥

इस प्रकार भोगोपभोग के योग्य इन धान्यों के मौजूद रहते हुए भी उनके उपयोग को नहीं जानने वाली प्रजा बार-बार मोह को प्राप्त होती थी वह उन्हे देखकर बार-2 भ्रम में पड़ जाती थी।

कल्पद्वृमेषु कात्स्येन प्रलीनेषु निराश्रयाः।
युगस्य परिवर्तेऽस्मिन्न भूवन्ना कुलाः कुलाः ॥(190)॥

इस युग परिवर्तन के समय कल्पवृक्ष बिलकुल ही नष्ट हो गये थे इसलिए प्रजाजन निराश्रय होकर अत्यन्त व्याकुल होने लगे।

तीव्राया मशनायाया मुदीर्णहारसंज्ञकाः।
जीवनोपायसंशीति व्याकुली कृत चेतसः ॥(191)॥

युगमुख्यमुपासीना नाभि मनुमपश्चिमम्।
ते तं विज्ञापयामासुरिति दीनगिरो नराः ॥(192)॥

उस समय आहार संज्ञा के उदय से उन्हें तीव्र भूख लग रही थी परन्तु उनके शान्त करने का कुछ उपाय नहीं जानते थे इसलिए जीवित रहने के संदेह से उनके चित्त अत्यन्त व्याकुल हो उठे। अन्त में वे सब लोग उस युग के मुख्य नायक अन्तिम कुलकर श्री नाभिराज के पास जाकर बड़ी दीनता से इस प्रकार प्रार्थना करने लगे। हे नाथ ! मनवांछित फल देने वाले तथा कल्पान्त काल तक नहीं भूलाये जाने के योग कल्पवृक्षों के बिना अब हम पुण्यहीन अनाथ लोग किस प्रकार जीवित रहें ? हे देव इस और से अनेक वृक्ष उत्पन्न हुए हैं जोकि फलों के बोझ से झुकी हुई अपनी शाखाओं द्वारा इस समय मानों हम लोगों को बुला ही रहें हो। क्या ये वृक्ष छोड़ने योग्य हैं ? अथवा इनके फल सेवन करने योग्य हैं ? यदि हम इनके फल ग्रहण करें तो ये हमें मारेंगे या हमारी रक्षा करेंगे ? तथा इन वृक्षों के समीप ही सब दिशाओं में ये कोई छोटी-2 झाड़ियाँ जम रही हैं, उनकी शाखाएँ फलों के भार से झुक रही हैं जिससे ये अत्यन्त शोभायमान हो रही हैं। इनका क्या उपयोग है ? इन्हें किस प्रकार उपयोग में लाना चाहिए ? और इच्छानुसार इनका संग्रह किया जा सकता है अथवा नहीं ? हे स्वामिन् आज यह सब बातें हम से कहिए। हे देव नाभिराज, आप यह सब जानते हैं और हम लोग अनभिज्ञ हैं, मूर्ख हैं अतएव दुखी होकर आपसे पुछ रहे हैं इसलिए हम लोगों पर प्रसन्न होइए और कहिए। इस प्रकार जो आर्य पुरुष हमें क्या करना चाहिए इस विषय में मूढ़ थे तथा अत्यन्त घबड़ाये हुए थे 'उनसे डरो मत' ऐसा कहकर महाराज नाभिराज नीचे लिखे वाक्य कहने लगे।

सर्व प्रथम धान्य का प्रयोग:-

इमे कल्पतरुच्छेदे द्रुमाः पक्षफलानताः।
युष्मानद्यांनुगतगृह्णन्ति पुरा कल्पद्रुमा यथा।(200)।

चूँकि अब कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं इसलिए पके हुए फलों के भार से नम्र हुए ये साधारण वृक्ष ही अब तुम्हारा वैसा उपकार करेंगे जैसा कि पहले कल्पवृक्ष करते थे।

भद्रकास्तदिमे भोग्याः कार्या न भ्रान्तिरत्र वः।
अमी च परिहर्तव्या दुरतो विषवृक्ष काः।(201)।

हे भद्र पुरुषों, ये वृक्ष तुम्हारे भोग्य हैं इस विषय मे तुम्हे कोई संशय नहीं करना चाहिए। परन्तु (हाथ का ईशारा- कर) इन विषवृक्षों को दूर से ही छोड़ देना चाहिए।

इमाश्च नाभौषधयः स्तम्बकर्यादयो मताः।
एतासां भोज्यमन्नाद्यं व्यञ्जनाद्यः सुसंस्कृतम्।(202)।

ये स्तम्बकारी आदि कोई ओषधियाँ हैं, इनके मसाले आदि के साथ पकाये गये अन्न आदि खाने योग्य पदार्थ अत्यन्त स्वादिष्ट हो जाते हैं।

स्वभावम् मधुराश्चैते दीर्घाः पुण्ड्रेक्षुदण्डकाः।
रसीकृत्य प्रषातव्या दन्तैर्यन्त्रैश्च पीडिताः।(203)।

और ये स्वभाव से ही मीठे तथा लम्बे चौड़े और ईख के पेड़ लगे हुए हैं। इन्हें दांतों से अथवा यन्त्रों से पेलकर इनका रस निकाल कर पीना चाहिए।

सर्व प्रथम मिट्ठी के बरतन का निर्माण:-

गजकुम्भस्थले तेन मृदा निर्वर्तितानि च।
पात्राणि विविधान्येषां स्थाल्यादीनि दयालुना।(204)।

उन दयालु महाराज नाभिराज ने थाल आदि अनेक प्रकार के बरतन

हाथी के गण्डस्थलपर मिट्ठी द्वारा बनाकर उन आर्य पुरुषों को दिये तथा इसी प्रकार बनाने का उपदेश दिया। इस प्रकार महाराज नाभिराज द्वारा बताये हुए उपायों से प्रजा बहुत ही प्रसन्न हुई। उसने नाभिराज मनु का बहुत ही सत्कार किया तथा उन्होंने उस काल के योग्य जिस वृति का उपदेश दिया था वह उसी के अनुसार अपना कार्य चलाने लगी। उस समय यहाँ भोगभूमि की व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी, प्रजा का हित करने वाले केवल नाभिराज ही उत्पन्न हुए थे इसलिए वे ही कल्पवृक्ष की स्थिति को प्राप्त हुए थे अर्थात् कल्पवृक्ष के समान प्रजा का हित करते थे।

कुलकरों के पूर्वभव:-

पूर्व व्यावर्णिता ये ये प्रतिश्रुत्यादयः क्रमात्।
पुरा भवे बभूवरते विदेहेषु महान्वयाः।(207)।

ऊपर प्रतिश्रुति को आदि लेकर नाभिराज पर्यन्त जिन चौदह मनुओं का क्रम-क्रम से वर्णन किया है वे सब अपने पूर्वभव में विदेह क्षेत्रों में उच्च कुलीन महापुरुष थे।

कुशलैः पात्रदानाद्यैरनुष्टानैर्यथोचितैः।
सम्यक्त्वग्रहणात् पूर्व बध्वायु भोग भूभुवाम्।(208)।
पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्वमुपादाय जिनान्तिके।
अत्रोदपत्सत र्वायुरन्ते ते श्रुतपूर्विणः।(209)।

उन्होंने उस भव में पुण्य बढ़ाने वाले पात्र दान तथा यथायोग्य ब्रताचरणरूपी अनुष्टानों के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले ही भोगभूमि की आयु बाँध ली थी, बाद में श्री जिनेन्द्र के समीप रहने से उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा श्रुतज्ञान की प्राप्ति हुई थी और जिसके फलस्वरूप आयु के अन्त में मरकर वे इस भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे।

उपर्युक्त वर्णन तिलोय पण्णति में निम्न प्रकार से किया गया है-

भरहकखेतम्मि इमे, अज्ञा-खडिम्मि काल परिभागा ।
अवसप्पिणि-उरसप्पिणि-पञ्चाया दोण्णि होंति पुढं ।(313)।

भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में ये काल के विभाग हैं। यहाँ पृथक्-पृथक् अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीरूप दोनों ही काल की पर्याय होती हैं।

णर-तिरियाणं आऊ, उच्छेह-विभूदि-पहुदियं सव्वं ।
अवसप्पिणिए हायदि, उरसप्पिणियासु वडढेदि ।(314)।

अवसर्पिणी काल में मनुष्य एवं तिर्यज्ञों की आयु, शरीर की ऊँचाई और विभूति इत्यादिक सब ही घटते तथा उत्सर्पिणी काल में बढ़ते रहते हैं।

अवसर्पिणी का अर्थ अवक्रांति(पतन) होना है अर्थात् निम्न स्तर की ओर गतिशील होना है। उत्सर्पिणी का अर्थ उत्क्रांति(उत्थान) है। उत्क्रांति माने उच्चस्तर की ओर गतिशील होना है। अतः जिस काल में मानव एवं पशुओं की आयु शरीर, विभूति, शक्ति इत्यादि कम होती है उस काल को अवसर्पिणी कहते हैं। जिस काल में उपर्युक्त विषय की वृद्धि होती है उसी काल विशेष को उत्सर्पिणी काल कहते हैं।

अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी की कालमर्यादा (-)

अद्वारपल्सायरउवमा दस होंति कोडिकोडीओ ।
अवसप्पिणि-परिमाणं, तेत्तियमुरसप्पिणी- कालो ।(315)।

अद्वारपल्यों से निर्मित दस कोडा कोडी सागरोपमप्रमाण अवसर्पिणी और इतना ही उत्सर्पिणी काल भी है।

10 कोटा कोटी= 10 कोटी गुणा 10 कोटी= 1000000000000000 1
10 कोटा कोटी अद्वा सागर प्रमाण काल अवसर्पिणी है। इसी प्रकार 10 कोटा कोटी सागर प्रमाण उत्सर्पिणी काल का प्रमाण है।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के उत्तर भेद एवं काल मर्यादा :

दोण्णि वि मिलिदे कप्पं, छब्देदा होंति तत्थ पत्तेकं ।
सुसमसुसमं च सुसमं, तइज्यं सुसमदुस्समयं ।(316)।
दुरसमसुसमं दुरसमदिदुरसमयं च तेसु पठमम्मि ।
चत्तारि- सायरोवम- कोडीकोडीओ परिमाणं ।(316)।
सुसमम्मि तिण्णि जलही-उवमाणं होंति कोडिकोडीओ ।
दोण्णि तदियम्मि तुरिमे, बादाल-सहरस्स-विरहिदो एको ।(318)।
इगिवीस-सहरसाणि, वासाणि दुस्समम्मि परिमाणं ।
अदिदुस्समम्मि काले, तेत्तियमेत्तं पि णादव्वं ।(319)।

इन दोनों को मिलाने पर बीस कोडा कोडी सागरोपम प्रमाण एक कल्पकाल होता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में से प्रत्येक के छः भेद हैं- सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुष्मा, दुष्मासुषमा, दुष्मा और अतिदुष्मा। इन छहों में से प्रथम सुषमा-सुषमा चार कोडा कोडी सागरोपमप्रमाण, द्वितीय सुषमा तीन कोडा कोडी सागरोपम प्रमाण, तृतीय दो कोडा कोडी सागरोपमप्रमाण, चतुर्थ दुष्मासुषमा व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोडा- कोडी सागरोपमप्रमाण, पंचम दुष्मा इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण और छहवें अतिदुष्मा काल भी इतने ही (इक्कीस हजार वर्ष) प्रमाण जानना जाहिए।

भोगभूमि की परिस्थिति:

सुसमसुसमम्मि काले, भूमिरज-धूम-जलण-हिम-रहिदा ।
कंडिप अवभसिला - विच्छियादि- कोडोवसग्ग- परिचत्ता ।(320)।

सुषमा सुषमा काल में भूमि, रज, धूप, और हिम से रहित तथा कण्टक, अम्रशिला(बर्फ) आदि एवं बिच्छु आदिक कीड़ों के उपर्याग से रहित होती हैं।

णिम्मल-दप्पण-सरिसा, णिंदिद-दव्वेहि विरहिदा तीए ।
सिकदा हवेदि दिव्बा, तणु-मण-णयणाण सुह-जणणी ।(321)।

इस काल मे निर्मल दर्पण के सदृश और निन्दित द्रव्यों से रहित द्रव्य बालू, तन, मन और नयनों को सुखदायक होती है।

विष्णुरिद-पंच-वण्णा, सहाव-मजवा व महुर-रस-जुत्ता।
चउ-अंगुल-परिमाणा, तुणंपि जाएदि सुरहि- गंधङ्गा।(322)।

उस पृथ्वी पर पांच प्रकार के वर्णों से स्फुरायमान, स्वभाव से मृदुल, मधुर रस से युक्त, सुगंध से परिपूर्ण, और चार अंगुलप्रमाण ऊँची तृण उत्पन्न होते हैं।

तीए गुच्छा गुम्मा, कुसुमंकुर - फल - पवाल - परिपुण्णा।
बहओ विचित्त - वण्णा, रुक्ख - समूहा समुच्चुंगा।(323)।

उस काल में पृथ्वी पर गुच्छा, गुल्म (झाड़ी), पुष्प, अंकुर, फल एवं नवीन पत्तों से परिपूर्ण, विचित्र वर्णवाले और ऊँचे, ऐसे बहुत से वृक्षों के समूह होते हैं।

कल्हार - कमल - कुवलय - कुमुदुञ्जल - जल - प्रवाह - पड़हत्था।
पोक्खरणी - वावीओ, मअरादि - विवर्जिया होति।(324)।

वहाँ पर कल्हार, कमल, कुवलय, और कुमुद, इन विशेष जाति के कमल पुष्पों तथा उञ्ज्वल प्रवाह से परिपूर्ण और मकरादिक जलजंतुओं से रहित, ऐसी पुष्पकरणी व वापिकायें होती हैं।

पोक्खरणी - पहुद्वीण, चउ - तड - भूमीसु रयण - सोवाणा।
तेसुं पर पासादा, रायणासण - विवह - परिपुण्णा।(325)।

इन पुष्पकरणी आदि की चारों तटभूमियों में रत्नों की सीढियाँ होती हैं। उनमे शयन और आसनों के समूहों से परिपूर्ण उत्तम भवन है।

णिरसेस - वाहि - णासण - अमिदेवम - विमल - सलिल - परिपुण्णा।
रेहंति दिग्धियाओ, जल, कीडण - दिव्य - दव्व - जुदा।(326)।

सम्पूर्ण व्याधियों को नष्ट करने वाले अमृतोपम निर्मल जल से परिपूर्ण

और जलक्रीडा के निमित्तभूत दिव्य द्रव्यों से संयुक्त ऐसी दीर्घिकायें वापिकायें शोभायमान होती हैं।

अइमुत्त्याण भवणा, सयणासण - सोहिदा सुपासादा।
विविचित्तं भासंते, विरुवमं भोगभूमीए।(327)।

भोगभूमि में अतिमुक्तकों अर्थात् अति स्वच्छंद भोगभूमिजों के भवन शयन एवं आसनों से सुशोभित सुन्दर प्रसाद अनुपम और सुविचित्र प्रतिभाषित होते हैं।

धरणिधरा उत्तुंगा, कंचण-पर-रयण-णियर-परिणामा।
णाणाविह-कप्पददुम-संपुण्णा दिग्धिआदि-जुदा।(328)।

वहाँ पर सुवर्ण एवं उत्तम रत्नसमूहों के परिणामरूप, नाना प्रकार के कल्पवृक्षों से परिपूर्ण और दीर्घिकादिक से संयुक्त उन्नत पर्वत हैं।
धरणी वि पंचवण्णा, तणु-मण-णयणाण णंदणं कुणइ।

वज्ञिंदणील-मरगय-मुत्ताहल-पउमराय-फलिह-जुदा।(320)।

पंचवर्णवाली और हीरा, इन्द्रनील मरकत, मुकाफल, पद्मराग तथा स्फटिक मणि से संयुक्त वहाँ की पृथ्वी भी तन, मन एवं नयनों को आनन्द देती है।

पवराओ वाहिणीओ, दो-तड-सोहंत-रयण-सोवाणा।
अमय-वर-रवीर-पुण्णा, मणिमय सिकदादि सोहंति।(330)।

वहाँ उभय तटों पर शोभायमान रत्नमय सीढियों से संयुक्त और अमृत के समान उत्तम क्षीर (जल) से परिपूर्ण ऐसी प्रवर नदियाँ मणिमय बालुका से शोभायमान होती हैं।

संख-पिणीलिय-मक्कुण-गोमच्छी - दंस - मसय - किमि- पहुदी।
वियलिंदियाण होति हु, णियमेणं पद्म - कालम्मि।(331)।

प्रथम काल में नियम से शंख, चीटी, खटमल, गोमक्षिका, डांस, मच्छर

और कृमि इत्यादि विकलेन्द्रिय जीव नहीं होते थे ।

ण्ठिथ असण्णी जीवो, ण्ठिथ तहा सामि भिच्च भेदो य ।

कलह - महाजुद्धादी, ईसा - रोगादिण हु होंति ।(332)।

इस काल में असंज्ञी जीव नहीं होते तथा स्वामी और भृत्य का भी भेद नहीं होता । इसी प्रकार नर- नारी कान्ति से रहित और कलह एवं युद्धादिक विरोधकारक भाव भी नहीं होते ।

रत्ति - दिणाणं भेदो, तिमिरादव - सीद- वेदणा- णिंदा ।

परदार - रदी परधण- चोरी या ण्ठिथ णियमेण ।(333)।

प्रथम काल में नियम से रात-दिन का भेद, अन्धकार, गर्मी व शीत की वेदना, निन्दा, परस्त्रीरमण और परधन हरण नहीं होता ।

जिस प्रकार विज्ञान की अपेक्षा पृथ्वी के आदिकाल में वर्षा का अभाव था, उसी प्रकार सुषमासुषमा काल में जल वृष्टि नहीं होती थी । वर्षाभाव में तथा अति उत्तम वातावरण के कारण कृमि, कीट-पतंगा विषाक्त क्षुद्र जीव जन्तु बिछु आदियों का अभाव था । पृथ्वी आदि अत्यन्त रखच्छ, पवित्र एवं शोभायुक्त थी । मनवांछित खाद्य सामग्री गृहोपकरण यान-वाहन, पोशाक, दीपक, आदि जीवन-यापन निमित्तक वरतुओं को यथेष्ट रूप से देने वाले अनेक कल्पवृक्ष पृथ्वी पर थे ।

उस समय भोगभूमि में मनुष्य तथा तिर्यच अत्यन्त सरल, मन्दकषायी होते थे । युद्ध, विग्रह, कलह आदि से रहित होने के कारण जीवन अत्यन्त सुख-शान्ति पूर्ण था । उस काल में मनुष्य की बात ही क्या यहाँ तक की सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि भी मांस तक नहीं खाते थे ।

दीपांग तथा ज्योतिरांग कल्पवृक्षों की तेज इतनी प्रखर थी कि उस ज्योति के कारण आकाशीय ज्योतिषपिण्ड की ज्योति (प्रकाश) भू-पृष्ठ तक नहीं पहुँचती थी अथवा कल्पवृक्ष की ज्योति से उनकी ज्योति मन्द होने के कारण सूर्य, चन्द्र आदि दिखाई ही नहीं देते थे । इसके कारण भोगभूमि

में शारीरिक, वातावरण जन्य सुख ही सुख है । यह सब पूर्व जन्मकृत सदाचार, दान, सरलता, नीति-नियमों का फल है ।

भोगभूमि मनुष्यों का वर्णन-

जमलाजमल-पसूदा, वर-वेंजण-लक्खणेहि परिपुण्णा ।
बदर-पमाणाहारं, अड्डम भत्तेसु भुंजंति ।(334)।

इस काल में युगल-युगल रूप से उत्पन्न हुए मनुष्य उत्तमव्यंजनों (तिल इत्यादिक) और चिन्हों (शंख, चक्र इत्यादिक) से परिपूर्ण होते हुए अष्टम भक्त में अर्थात् चौथे दिन बेर के बराबर आहार ग्रहण करते हैं ।

भोगभूमि काल में सन्तानों की उत्पत्ति पिता-माता के जीवन के अन्तिम समय में होती है । दीर्घ जीवनकाल में सन्तान की उत्पत्ति कदापि नहीं होती है । एक साथ जुगल रूप से (जोड़ा से) भाई-बहन जन्म ग्रहण करते हैं । दोनों भाई-बहन प्रकृति की गोद में निरापद रूप से निर्भीक रूप से पलते-पोसते एवं जीवनयापन करते हैं । उनका शरीर अत्यन्त मनोहर, सुसंगठित, दृढ़ होता है ।

भोग-भूमिज मनुष्यों की आयु तथा शरीर की ऊँचाई-

तस्मिं काले छच्चिय, चाव-सहरसाणि देह-उरसेहो ।
तिण्णि पलिदोवमाइं, आऊणि णराणं णारीणं ।(335)।

इस काल में पुरुष और स्त्रियों के शरीर की ऊँचाई छह हजार धनुष तथा आयु तीन पल्योपमप्रमाण होती है ।

उत्तम जलवायु, उपर्युक्त वातावरण, योग्य पिता-माता, पुष्टिकर भोजन के कारण तथा पूर्व उपार्जित पुण्य कर्म के कारण भोग-भूमि में उत्पन्न होने वाले पूर्ण वयस्क स्त्री पुरुषों के शरीर की ऊँचाई तीन कोस (छह मील या, छह हजार धनुष) प्रमाण होती है । उनकी आयु तीन पल्य (असंख्यात करोड़, अरब वर्ष) होती है ।

जीवन में वे लोग कभी भी रोग-जनित कष्ट अनुभव नहीं करते हैं ।

किशोरावस्था से लेकर कल्पवृक्ष से प्राप्त विभिन्न भोग-उपभोग को सुखपूर्वक भोगते हुए मृत्यु तक षोडश (सोलह वर्ष) वयस्क कुमार के समान सदैव जीवन-यापन करते हैं।

भोग-भूमिज जीवों के शरीर संगठन-

पुद्दीए होंति अड्डी, छप्पणा समहिया य दोणि सया।

सुसमसुसम्मि काले, णराण णारीण पत्तेकं ।(336)।

सुषमासुषमा काल में पुरुष और स्त्रियों में से प्रत्येक के पृष्ठ भाग में दो-सौ छप्पन हड्डियां होती हैं।

भिण्णिंद-णील-केसा, णिरुवम-लावण्य-रुव- परिपुण्णा।

सुइ-सायर-मज्जगया, णीलुप्पल-सुरहि-णिर्सासा ।(337)।

इस काल में मनुष्य भिन्न इन्द्रनील मणि सदृश केश वाले, अनुपम लावण्यरूप से परिपूर्ण, सुखसागर के मध्य में मग्न, और नील कमल के समान सुगंधित निश्वास वायु से युक्त होते हैं।

तद्भोग-भूमि-जादा, णव-णाग-सहस्र-सरिस-बल-जुत्ता।

आरत्त-पाणि - पादा, णवचंपय - कुसुम- गंधङ्गा ।(338)।

मद्व - अञ्चव - जुत्ता, मन्दकसाया सुसील - संपण्णा।

आदिम - संहणण - जुदा, समचउरस्संग - संठाणा ।(339)।

बाल-रवी सम-तेया, कवलाहार वि विगद- णीहारा।

ते जुगल-धम्म- जुत्ता, परिवारा णथि तक्काले ।(340)।

उस भोग-भूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य नो हजार हाथियों के सदृश बल से युक्त किंचित् लाल हाथ-पैर वाले, नव चम्पक के फूलों की सुगन्ध से व्यास, मार्दव एवं आर्जव गुणों से सहित, मन्दकषाय, सुशीलतापूर्ण आदि के अर्थात् वज्रवृषभनाराच संगठन से युक्त, समचतुरस्त्र शरीर संस्थान वाले उगते हुए सूर्य के सदृश तेजर्णी, कवलाहार को करते हुए भी मल-मूत्र से रहित और युगलधर्म से सहित होते हैं। इस काल में नरनारी के अतिरिक्त

अन्य परिवार नहीं होता है।

भोग-भूमि में उत्पन्न होने वाले मनुष्य का शरीर वज्र के समान सुदृढ होता है। उनके शरीर के अस्थिपंजर वज्र के समान दृढ एवं वज्र के वेस्टन से बँधे रहते हैं। वे कभी भी लघुशंका एवं दीर्घशंका नहीं जाते हैं।

भोग-भूमि में असामाजिक जीवन-

गाम-ण्यरदि सव्वं, ण होदि ते होंति दिव्व-कल्पतरु।

णिय-णिय-मण-संकप्पिद-वत्थूणि देंति जुगलाण ।(341)।

इस समय वहाँ पर गँव व नगरादिक सब नहीं होते, केवल वे सब कल्पवृक्ष होते हैं जो युगलों को अपने-अपने मन की कल्पित वस्तुओं को दिया करते हैं।

जिस प्रकार आधुनिक, ऐतिहासिक-विज्ञ मानते हैं कि आदिम काल में मनुष्य प्रकृति की गोद में स्वतंत्र रूप से विचरण करते थे। उस समय में सामाजिक जीवन के अभाव से परिवार, ग्राम, नगरादि का संगठन नहीं हुआ था। व्यक्तिगत धन-सम्पत्ति वैभव, पशु, वनस्पति आदि नहीं थी। जिस प्रकार वर्तमान में सूर्य किरण, प्राण वायु, जलादि प्राकृतिक सम्पत्ति सर्वसाधारण के लिए व्यवहार्य वस्तु है उसी प्रकार प्राचीन काल में ऐतिहासिक भोग-भूमि काल में उपर्युक्त व्यवस्था थी। मनवांछित सम्पूर्ण जीवनयापन सामग्री को देने वाले दस प्रकार के कल्पवृक्ष थे। उससे बिना परिश्रम के केवल इच्छामात्र से इच्छित सामग्री उपलब्ध हो जाती थी। इसलिए उस समय में कृषि, वाणिज्य, सेवा, शिल्पादि जीवन-यापन कार्य (कर्म) नहीं था। इस अपेक्षा आधुनिक इतिहास एवं जैन प्राचीन इतिहास में समानता है। परन्तु सम्भ्यता एवं संरक्षित की दृष्टि से देखने पर आकाश पाताल का अन्तर है क्योंकि ऐतिहासिक मानते हैं कि प्राचीन आदिम काल में मनुष्य असम्भ्य, बर्बर, कच्चा मांस भक्षी, नग्न, सम्भ्य- भाषादि से रहित होते थे। परन्तु सत्य तथ्य यह है कि सामाजिक, पारिवारिक जीवन यापन से रहित होते हुए भी वे लोग सम्भ्य, अत्यन्त सुन्दर मनुष्य शरीर को धारण करने वाले कल्पवृक्ष से प्राप्त उत्तम-उत्तम परिधान

धारण करने वाले, सुवर्ण, रत्न निर्मित अलंकार, किरिट, कुण्डल आदि से अलंकृत शरीर वाले अमृतोपम, कल्पवृक्ष से प्राप्त भोजन करने वाले, तथा अनेक भोगोपभोग से जीवनयापन करने वाले भोग-भूमिज मनुष्य होते थे। मेरी पुस्तक में विभिन्न सन्दर्भ की अपेक्षा मैं (लेखक) आधुनिक एवं प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता के बारे में एक तुलनात्मक समीक्षा किया है उस से जिज्ञासु पाठक अवलोकन करें।

भोग - भूमि में भोग विलासिता -

गीद - रवेसुं सोत्तं, रुवे चक्खू सुसोरहे घाणं ।
जीहा विविह - रसेसु, फासे फासिदियं रमइ।(355)।

भोग - भूमिजों की श्रोत्र इन्द्रिय गीतश्वरण में, चक्षु रूप में, घ्राण सुन्दर सौरभ में, जिहा विविध प्रकार के रसों में और स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्श में रमण करती है।

इय अण्णोण्णासत्ता, ते जुगला वर णिरंतरे भोगे ।
सुलभे विण सत्तिं, इंदिय - विसएसु पावंति।(356)।

इस प्रकार परस्पर में आसक्त हुए वे युगल नर-नारी उत्तम भोग सामग्री के निरन्तर सुलभ होने पर भी इन्द्रिय विषयों में तृप्ति को नहीं पाते।

जुगलाणि अणंतगुणं, भोगं चक्कहर-भोग-लाहादो ।
भुंजति जाव आउं, कदलीघादेण रहिदाणि।(357)।

ये भोग-भूमिजों के युगल कदलीघातमरण से रहित होते हुए आयु पर्यन्त चक्रवर्ती के भोग समूह की अपेक्षा अनन्त गुणे भोग को भोगते हैं।

कप्पदुम-दिण -वत्थुं, घेत्तूण विकुव्वणाए बहुदेहे ।
कादूण ते जुगला, अणेय-भोगाइं भुंजंति।(358)।

ये युगल कल्पवृक्षों से दी गई वर्स्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया से बहुत से शरीरों को बनाकर अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हैं।

पुरिसा वर-मउड-धरा, देविंदादो वि सुंदरायारा ।
अच्छर-सरिसा इत्थी, मणि- कुंडल-मंडिय-कवोला।(359)।

वहाँ पर उत्तम मुकुट को धारण करने वाले पुरुष इन्द्र से भी अधिक सुन्दराकार और मणिमय कुण्डलों से विभूषित कपोलों वाली स्त्रियाँ अप्सराओं के सदृश होती हैं।

मउडं कुंडल-हारा, मेहल-पालंब-बम्हसुत्ताइं ।
अंगद-कडय-प्पहुदी, होंति सहावेण आभरणा।(360)।

मुकुट, कुण्डल, हार, मेखला, प्रालम्ब, ब्रह्मसूत्र, अंगद और कटक इत्यादि भूषण भोग-भूमिजों के स्वभाव से हुआ करते हैं।

कुंडल-मंगद-हारा, मउडं केयूर-पट्ट-कडयाइं ।
पालंब-सुत्त-णेउर-दो-मुद्दी-मेहलासिछुरियाओ।(361)।

भोग-भूमि में कुण्डल, अंगद, हार, मुकुट, केयूर, पट्ट, कटक, प्रालम्ब, सूत्र, नुपूर दो मुद्रिकाएँ, मेखला, असि (करवाल), छुरी, ग्रैवेयक और कर्णपूर ये सोलह आभूषण पुरुषों के होते हैं। इनमें से छुरी तथा करवाल से रहित शेष चौदह आभरण स्त्रियों के होते हैं।

गेवेज्ज कर्णपूरा, पुरिसाणं होंति सोलसाभरणा ।
चोद्दस इत्थीआणं, छुरिया-करवाल-हीणाइं।(362)।
कडय-कडि-सुत्त-णेउर-तिरीड-पालंब-सुत्त-मुद्दीओ ।
हारो कुंडल-मउडध्दहार-चूडामणी वि गेवेज्जा।(363)।
अंगद छुरिया खग्गा, पुरिसाणं होंति सोलसाभरणा ।
चोद्दस इत्थीण तहा, छुरिया-खग्गेहि परिहीण।(364)।

कडा, कटिसूत्र, नुपूर, किरीट, प्रालम्ब, सूत्र, मुद्रिका, हार, कुण्डल, मुकुट, अर्धद्दहार, चूडामणि, ग्रैवेय, अंगद, छुरी और तलवार ये सोलह आभरण पुरुषों के तथा छुरी तथा तलवार से रहित शेष चौदह आभरण स्त्रियों के होते हैं। (पाठान्तर)।

जिस क्षेत्र में एवं जिस काल में भोग की प्राधान्यता रहती है उसको भोग-भूमि कहते हैं। पूर्व संचित पुण्य के कारण भोग-भूमिज मानव बिना परिश्रम किए कल्पवृक्षों से भोग उपभोग की विविध प्रकार की उत्कृष्ट सामग्री प्राप्त करके पूर्ण जीवन सुखमय बिताते हैं। उस समय में रोगादि तथा अकाल मरण आदि से रहित होकर दोनों स्त्री-पुरुष भोग करते हुए जीवन-यापन करते हैं। कल्पवृक्षों से सहज प्राप्त विभिन्न सुन्दर पोषाक एवं अलंकार से विभूषित होकर दोनों स्वामी-स्त्री प्रेम प्रीति से सहवास करते हैं। आधुनिक ऐतिहासिक लोग बताते हैं कि प्राग्-ऐतिहासिक काल में मनुष्य वस्त्र अलंकार से रहित होकर नग्न रहते थे। उदर पोषण के लिये पर्याप्त शुद्ध पक्ष शाकाहार भी नहीं मिलता था जिस कारण वे लोग कच्चा मांसाहार करते थे परन्तु यह बात सत्य तथ्यपूर्ण नहीं है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करेंगे तो प्राचीन कालीन मनुष्य सुख समृद्धि से जीवन-यापन करते थे यह सिद्ध हो जायेगा। सन्दर्भ के अनुसार इसी किताब में आगे इस बारे में विशेष प्रकाश डालँगा वहाँ से पाठक देखने का कष्ट करें। और यदि विशेष जानना है तो मेरे द्वारा लिखित 'विश्व विज्ञान रहस्य' का अवलोकन करें।

भोग-भूमि में उत्पन्न होने का कारण-

भोगमहीए सब्वे, जायंते मिछ्छ - भाव- संजुत्ता।
 मंद-कराया मणुवा, पेसुण्णासूय-दंब-परिहीणा।(365)
 वञ्जिद-मंसाहारा, महु-मञ्जोदुंबरेहि परिचत्ता।
 सद्य-जुदा मद-रहिदा, चोरिय-परदार-परिहीणा।(366)
 गुणधर-गुणेसु रत्ता, जिण-पूजं जे कुणंति परवसदो।
 उववास-तणु- सरीरा, अञ्जव-पहुदीहि संपण्णा।(367)
 आहार-दाण-णिरदा, जदीसु वर-विविह-जोग-जुत्तेसुं।
 विमलतर-संजगेसु य, विमुक्त - गंथेसु भत्तीए।(368)
 पुच्छं बद्ध-णराऊ, पच्छा तित्थयर-पाद-मूलम्भि।
 पावदि-खाइय-सम्मा, जायंते केइ भोग भूमीए।(36)

भोग भूमि में वे सब जीव उत्पन्न होते हैं जो मिथ्यात्व भाव से युक्त होते हुए भी मंदकषायी हैं, पैशुन्य एवं असूयादि गुणों से रहित हैं, मांसाहार के त्यागी हैं, मधु मध्य और उदुम्बर फलों के भी त्यागी हैं, सत्यवादी हैं, अभिमान से रहित हैं, वेश्या और परस्त्री के त्यागी हैं, गुणियों और गुणों में अनुरक्त हैं, आधीन होकर जिनपूजा करते हैं, उपवास से शरीर के कृश करने वाले हैं, आर्जवादि से सम्पन्न हैं, तथा उत्तम एवं विविध प्रकार के योगों से युक्त, अत्यन्त निर्मल संयम के धारक, और परिग्रह रहित, ऐसे पात्रों को भक्ति से आहार दान देने में तत्पर हैं।

आहाराभय-दाणं विविहोसह-पोत्थयादि-दाणं च।
 पत्त-विसेसे दादूण भोग भूमीए जायंति।(371)

शेष कितने ही मनुष्य आहारदान, अभयदान, विविध प्रकार की औषध तथा ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि के दान को देकर भोग भूमि में उत्पन्न होते हैं।

दादूण केइ दाणं, पत्त - विसेसेसु के वि दाणाणं।
 अणुमोदणेण तिरिया, भोगक्खिदीए विजायंति।(372)

कोई पात्र विशेषों को दान देकर और कोई दोनों की अनुमोदना करने से तिर्यंच भी भोग भूमि में उत्पन्न हुए हैं।

एवं मिच्छादिद्वी, णिगंथाणं जदीण दाणाइं।
 दादूण पुण्ण-पाके, भोगमही केइ जायंति।(370)

इस प्रकार कितने ही मिथ्यादृष्टि मनुष्य निर्ग्रथ यतियों को दानादि देकर पुण्य का उदय आने पर भोग-भूमि में उत्पन्न हुए हैं।

गहिदूणं जिणलिंगं, संजम-सम्मत-भाव-परिचत्ता।
 मायाचार-पयहा, चारित्तं णासयंति जे पावा।(373)
 दादूण कुलिंगीणं, णाणा-दाणाणि जे णरा मूढा।
 तव्वेस-धरा केइ, भोगमहीए हवंति ते तिरिया।(374)

जो पापी, जिन लिंग को (मुनिव्रत) ग्रहण करके संयम एवं सम्यक्त्व भाव को छोड़ देते हैं और पश्चात् मायाचार में प्रवृत्त होकर चरित्र को नष्ट करते हैं, तथा जो कोई मुर्ख मनुष्य कुलिंगियों को नाना प्रकार के दान देते हैं या उनके भेष को धारण करते हैं, वे भोग-भूमि में तिर्यच होते हैं।

भोग-भूमि, भोग प्रधान भूमि है। वहाँ पर यावत् जीवन निरामय रहकर इच्छा पूर्वक पंचेन्द्रिय जनित समस्त भोगउपभोग को भोग-भूमिज स्त्री-पुरुष भोगते हैं। इसी प्रकार अवस्था प्राप्त करने के लिये पूर्व कृत सुकृत चाहिए। इसलिए वहाँ कुछ विशेष जीव ही उत्पन्न होते हैं। जो सरल स्वभावी, मंदकषायी, शाकाहारी, सत्यवादी, निराभिमानी, समव्यसन से रहित, मुनियों को आहार देने वाला तथा औषध, ज्ञान, अभयदान, देने वाले भोग भूमि में उत्पन्न होते हैं। योग्य पात्र को दान देते हुए देखकर पशु यदि अन्तरंग में प्रमोद भाव धारण करता है वह पशु भी भोग-भूमि में उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व रहित तप से भी भोग-भूमि में जन्म मिलता है।

विशेष द्रव्य, क्षेत्र परिसर के कारण भोग-भूमि में मैथुन सद्भाव से भी नर तथा पशु, जीवन काल में संतान उत्पन्न नहीं करते हैं। केवल नौ मास आयु शेष रहने पर गर्भ रहता है। आयु के शेष काल में युगल बालक-बालिका जन्म लेते हैं। पिता छोंक से और माता जम्भाई आने से मृत्यु को प्राप्त होते हैं और इनके शरीर का दाह-संस्कार नहीं होता है। परन्तु कपूर के समान शरीर विलीन हो जाता है। जिस प्रकार केला, बाँस आदि वृक्ष जीवन के शेष काल में एक ही बार फल देकर मर जाते हैं उसी प्रकार भोग-भूमिज मनुष्य और पशु को जानना चाहिए। इसी कारण भोग-भूमिजों की जनसंख्या अतिरिक्त नहीं बढ़ती थी।

पिता-माता के मरने के बाद भी बालक-बालिकायें असहाय होकर मरण को प्राप्त नहीं होते थे। प्रकृति के गोद में उनका पालन-पोषण स्वयमेव होता था। जिस प्रकार वर्तमान काल में मनुष्य की संतान अनेक समय तक दुर्बल, निःसहाय, परालम्ब होकर जीवन-यापन करती हैं उसी प्रकार भोग-भूमि

में जीवन-यापन नहीं करते थे केवल शश्या में सोते हुए अंगूठे चूंसकर तीन दिन तक जीवन तत्व प्राप्त करते हैं। तीन दिन से लेकर ४ दिन तक बैठने में समर्थ हो जाते थे। ४ दिन से लेकर नौ दिन में अस्थिरगमन करने में समर्थ हो जाते थे। नौ दिन से लेकर बारह दिन में स्थिर गमन करने में समर्थ हो जाते थे। बारह दिन से लेकर पन्द्रह दिन में विभिन्न कलाओं में निपुण हो जाते थे। १५ से लेकर १८ दिन में किशोरावस्था को प्राप्त हो जाते थे। १८ से लेकर २१ दिन में सम्यक् दर्शन प्राप्त करने के लिये समर्थ हो जाते थे तथा उसी अवस्था में पूर्णता को प्राप्त हो जाते थे। इसी प्रकार २१ दिनों में पूर्ण यौवन को प्राप्त होकर आजीवन उसी यौवन-अवस्था में जीवन व्यतीत करते थे। जीवन-अवस्था में कभी भी वृद्धत्व को प्राप्त नहीं होते थे। उनका शरीर अत्यन्त सुन्दर, सुसंगठित, सुकुमार और सुलक्षण से युक्त रहता था। वर्तमान मनुष्य के शरीर के समान उनका शरीर, रक्त, मांसादि सम धातुओं से निर्मित होते हुए भी अस्त्र-शस्त्र से छेदन भेदन नहीं होता था। उनके शरीर अत्यन्त शुभ परमाणुओं से निर्मित होने के कारण उनके शरीर से मल-मूत्र निष्कासन नहीं होता था अर्थात् बहुत बड़ी दीर्घ आयु में भी कभी शौच तथा पेशाब नहीं जाते थे। तेल-मर्दन, प्रसाधन सामग्रीओं के प्रयोग के बिना भी उनका शरीर अत्यन्त शोभायमान रहता था। उस समय सामाजिक जीवन के अभाव से शिक्षादि संस्था के अभाव से भी वे लोग पूर्वजन्म-उपार्जित संस्कार के कारण अक्षर, चित्र, गणित, संगीत, शिल्प आदि ६४ कलाओं में निपुण होते थे। (कलाओं का वर्णन ७२ कलाओं में किया गया है, पाठकवृद्ध वहाँ से देखने का कष्ट करें) जिस प्रकार भोग-भूमिज नर-नारी सरल-स्वभावी, नम्र, सतत भोगरत, शाकाहारी होते हैं उसी प्रकार वहाँ के सिंह, व्याघ्र, भेड़ियां, मुर्गा आदि समरत पशु-पक्षी भी सरल स्वभावी, नम्र, शाकाहारी होते हैं। वर्तमान में जो पशु-पक्षी माँस खाते हैं, ऐसै जाति के पशु-पक्षी भी उस समय में अपनी-अपनी योग्यतानुसार अत्यन्त कोमल, मधुर, सुगंधित फल, तृण आदि खाकर सुख से जीवन-यापन करते थे।

भोग-भूमिज में जन्म तथा जीवन-यापन-

भोगज - णर - तिरियाणं, णाव - मास - पमाण - आउ - अवसेसे।
ताणं हवंति गब्भा, ण सेस - कालम्मि कइया वि।(375)

भोग - भूमि के मनुष्य और तिर्यन्चों की नौ मास आयु शेष रहने पर उनके गर्भ रहता है और नाशकाल अर्थात् मृत्यु का समय आने पर (उनके युगल बालक- बालिका) जन्म लेते हैं।

पुण्णम्मि य णवमासे, भू- सयणे सोविऊण जुगलाइ।
गब्भादो जुगलेसुं, विकंतेसुं मरंति तक्कालं।(376)

नव मास के पूर्ण होने पर नर - नारी युगल भू - शश्या पर सोकर गर्भ से युगल के निकलने पर तत्काल ही मरण को प्राप्त होते हैं।

छिक्केण मरदि पुरिसो, जिंभारंभेण कामिणी दोण्हं।
सारद- मेघव्व तणू आमूलादो विलीएदि।(377)

पुरुष छींक से और स्त्री जिम्भा (जम्भाई) के आने से मृत्यु को प्राप्त होती है। उन दोनों के शरीर शरदकालीन मेघ के समान आमूल (पूर्ण) विलिन हो जाते हैं।

भावण - वैंतर - जोइस - सुरेसु जायंति मिच्छ - भाव - जुदा।
सोहम्म - दुगे भोगज - णार - तिरिया सम्म - भाव - जुदा।(378)

मृत्यु के होने पर भोग - भूमिज मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यच, भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में तथा सम्यदृष्टि मनुष्य, तिर्यच सौधर्म युगल में उत्पन्न होते हैं।

जादाण भोग भूवे, सयणोवरि बालयाण सुत्ताणं।
णिय अंगुड्य - लिहणे, गच्छंते तिण्णि दिवसाणि।(379)

भोग - भूमि में उत्पन्न हुए बालकों के शश्या पर सोते हुए अपने अंगूठों के चुराने से तीन दिन व्यतीत होते हैं।

बइसण अस्थिर - गमण, थिर - गमण - कला - गुणेणपत्तेकं।
तारुण्णेण सम्मत - गहण - पाउग्ग तिदिणाइ।(380)

इसके पश्चात् उपवेशन (बैठने), अस्थिरगमन, स्थिरगमन, कला गुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यग्दर्शन ग्रहण करने की योग्यता, इनमें से क्रमशः प्रत्येक अवस्था में उन बालकों के तीन-2 दिन व्यतीत होते हैं।

जादि - भरणेण कई, कई पडिबोहणेण देवाणं।
चारणमुणि - पहुदीण, सम्मतं तत्थ गेण्हंति।(381)

वहां पर कोई जीव जाति स्मरण से, कोई देवों के प्रतिबोधित करने से और कोई चारण मुनि आदि के सदुपदेश से सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं।

देवी-देव-सरिच्छा, बत्तीस-पसत्थ-लक्खणेहि जुदा।
कोमल-देहा-मिहुणा, समचउरस्संग-संठाणा।(382)
धादुमयंगा वि तहा, छेत्तुं भेत्तुं च ते किरण सक्ता।
असुचि-विहीणत्तादो, मुत्त-पुरीसासवो णत्थि।(383)

वे भोग भूमिज जीव, देव-देवियों के सदृश बत्तीस प्रशस्त लक्षणों से सहित सुकुमार देह रूप विभव के धारक, समचतुरस्संग संस्थान से संयुक्त होते हैं और उनका शरीर धातुमय होते हुए भी छेदा-भेदा नहीं जा सकता एवं अशुचित्व से रहित होने के कारण इनके शरीर में मूत्र व विष्टा का आस्व नहीं होता है।

ताण जुगलाण देहा, अद्भं गुव्वद्वृणं जण-विहीणा।
मुह-दंत-णयण-धोवण, णह-कटटण-विरहिदा वि रेहंति।(384)

उन युगल नर-नारियों के शरीर तेल मर्दन, उबटन और अंजन से तथा मुख दाँत एवं नेत्रों के धोने व नाखूनों के काटने से रहित होते हुए भी शोभायमान होते हैं।

अव्यर-आलेक्खेसुं, गणिदे गंधव-सिष्प-पहुदीसुं।
ते चउसडि-कलासुं होंति सहावेण णिउण्यरा ।(385)।

वे अक्षर, चित्र, गणित, गन्धर्व संगीत और शिल्प इत्यादि चौंसठ कलाओं में स्वभाव से ही अतिशय निपुण होते हैं।

ते सच्चे वर- जुगला, अण्णोण्णप्पण्ण-पेम्म-संमूढा ।
जम्हा तम्हा तेसुं, सावय-वद-संजमो णथि ।(386)।

वे सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेम में अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं, इसलिए उनके श्रावक के ब्रत और संयम नहीं होता हैं।

कोइल-महुरालावा, किण्णर- कंठा हवंति ते जुगला ।
कुल-जादि-भेद-हीणा, सुहसत्ता चत्त-दारिद्रा ।(387)।

वे नर-नारी युगल कोयल के समान मधुरमयी, किन्नर के समान कंठ वाले कुल जाति के भेद से रहित, सुख में आसक्त, और दरिद्र्य से रहित होते हैं।

तिरिया भोगखिदीए, जुगला जुगला हवंति वर-वण्णा ।
सरला मन्दकसाया, णाणाविह-जादि-संजुत्ता ।(388)।

भोग भूमि में उत्तम वर्ण विशिष्ट, सरल, मन्दकषायी और नाना प्रकार की जातियों वाले तिर्यंच जीव युगल -युगल रूप से होते हैं।

गो-केसरि-करि-मयरा-सूवर-सारंग-रोज़ा-महिस-वया ।
वाणर-गवय-तरच्छा, वग्ध-सिगालच्छ-भल्ला य । (389)।

कुकुड-कोइल-कीरा, पारावद-रायहंस-कोरंडा ।
बक-कोक-कोंच-किंजक, पहुदीओ होंति अण्णे वि ।(390)।

भोग-भूमि में गाय, सिंह, हाथी, मगर, शूकर, सारंग, रोज़ा (ऋश्य), भैंस, वृक (भेड़िया) बन्दर, गवय, तेंदुआ, व्याघ, शृगाल, रीछ, भालू, मुर्गा, कोयल, तोता, कबूतर, राजहंस, कोरड, काक, क्रौंच और कंजक तथा और

भी तिर्यंच होते हैं।

जह मणुवाणं भोगा, तह तिरियाणं हवंति एदाणं ।
णिय-णिय- जोगत्तेण, फल-कंद-तणंकुरादीणि ।(391)।

जहाँ जिस प्रकार मनुष्यों के भोग होते हैं उसी प्रकार इन तिर्यंचों के भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार फल, कन्द, तृण और अंकुरादिरूप भोग होते हैं।

वग्धादी भूमिचरा, वायस- पहुदी य खेयरा तिरिया ।
मंसाहारेण विणा, भुजंते सुरतरुण महुर-फलं ।(392)।

वहाँ व्याघादि भूमिचर और काक प्रभृति नभचर तिर्यंच मांसाहार के बिना कल्पवृक्षों का मधुर फल भोगते हैं।

हरिणादि-तणचरा तह, भोगमहीए तणाणि दिव्वाणि ।
भुजंति जुगल-जुगला, उदय-दिणेस-प्पहा सच्चे ।(393)।

तथा भोग-भूमि में उदय कालीन सूर्य के समान प्रभाव वाले समस्त हरिणादिक तृण-जीवी पशुओं के युगल दिव्य तृणों का भक्षण करते हैं।

सुषमा काल-: भोग प्रधान काल-
कालम्मि सुसमसुसमे, चउ-कोडाकोडी- उवहि-उवमम्मि ।
पढमादो हीयंते, उच्छेहाऊ- बलद्वि-तेआइं ।(394)।

चार कोडा कोडी सागरों-प्रमाण सुषमासुषमा काल में पहिले से शरीर की ऊँचाई, आयु, बल, ऋद्धि और तेज आदि हीन-हीन हो जाते हैं।

उच्छेह-पहुद खीणे, सुसमो णामेण पविसदे कालो ।
तरस्स पमाणं सायर-उवमाणं तिण्णि कोडि कोडीओ ।(395)।

इस प्रकार उत्सेधादिक के क्षीण होने पर सुषमा नाम का द्वितीय काल प्रविष्ट होता है। उसका प्रमाण तीन कोडा कोडी सागरोपम है।

सुसमस्सादिम्मि णराणुच्छेदो चउ-सहस्र-चावणि ।
दो पल्ल- पमाणाऊ, संपुण्णमियंक-सरिस-पहा ।(396)।

सुषमा काल के आदि में मनुष्यों के शरीर का उत्सेध चार हजार धनुष, आयु दो पल्योपमप्रमाण और प्रभा (शरीर की कान्ति) पूर्ण चन्द्रमा के सदृश्य होती है।

अद्वावीसुत्तर-सयमद्वी पुड्डीए होंति एदाण ।
अच्छर-सरिसा इथी, तिदस- सरिच्छा णरा होंति ।(397)।

इनके पृष्ठभाग में एक सौ अट्ठाईस हड्डियाँ होती हैं। उस समय अप्सराओं जैसी स्त्रियाँ और देवों जैसे पुरुष होते हैं।

तस्सिं काले मणुआ, अक्ख-फ्ल-सरिसममिदमाहारं ।
भुंजंति छ्डु-भत्ते, समचउरस्संग-संठाणा ।(398)।

उस काल में मनुष्य समचतुरस्संस्थान से युक्त होते हुए षष्ठ भक्त में अर्थात् तीरसे दिन अक्ष (बेहेड़ा) फल के बराबर अमृतमय आहार को ग्रहण करते हैं।

तस्सिं संजादाणं, सयणोवरि बालयाण सुत्ताणं ।
णिथ-अगुंडिय-लिहणे, पंच दिणाणि पवद्यंति ।(399)।

उस काल में उत्पन्न हुए बालकों के शय्या पर सोते हुए अपने अंगुठे के चूसने में पांच दिन व्यतीत होते हैं।

बइसण-अतिथि-गमणं, थिर-गमण-कला-गुणेण पत्तेकं ।
तरुणेण सम्मत-गहण-जोगेण जंति पंच-दिणा ।(400)।

पश्चात् उपवेशन, अस्थिरगमन, स्थिरगमन, कलागुणप्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्वग्रहण की योग्यता, इनमें से प्रत्येक अवस्था में उन बालकों के पाँच-पाँच दिन जाते हैं।

एत्तिय-मेत्त-विसेसं, मोत्तूं सेस-वण्णण-पयारा ।
सुसमसुसमम्मि काले, जे भणिदा एथ वत्तव्वा ।(401)।

उपर्युक्त इतनी मात्र विशेषता को छोड़कर शेष वर्णन के प्रकार जो सुषमासुषमा काल में कहे गये हैं, उन्हे यहाँ पर भी कहना चाहिए।

कालम्मि सुसमणामे, तिय-कोडीकोडि-उवहि-उवमम्मि ।
पढमादो हीयंते, उच्छेहाऊ-बलद्वि-तेजादी ।(402)।

तीन कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण सुषमा नामक काल में पहिले से ही उत्सेध, आयु, बल, ऋद्धि और तेज इत्यादिक उत्तरोत्तर हीन-हीन होते जारहे हैं।

सुषमा सुषमा अति उत्कृष्ट भोग-भूमि जहाँ पर केवल सुख ही सुख है। उस काल की मर्यादा 4 कोटाकोटी सागर प्रमाण है। (40000000)
= 1600000000000000 सागर प्रमाण काल सुषमासुषमा की अवस्थिति होती है। सागर की परिभाषा सूक्ष्म जटिल एवं अलौकिक गाणतिक होने के कारण यहाँ पर नहीं दिया गया है। 'विश्व विज्ञान रहस्य' के प्राचीन एवं अर्वाचीन गणित प्रकरण में दिया गया है। पाठकवृन्द वहाँ से देखने का कष्ट करें। परन्तु स्थूल रूप से सागर प्रमाण काल को जानने के लिए एक यहाँ पर उदाहरण देना अप्रसंग नहीं होगा। मान लिजिए एक वर्ष बराबर एक बिन्दु है तो एक सागर प्रमाण काल एक महासागर में स्थित जल के बिन्दु के बराबर हैं। इसी प्रकार दीर्घकाल व्यतीत होने के बाद उत्तम भोग-भूमि समाप्त हो जाती है। उत्तम भोग-भूमि अर्थात् सुषमासुषमा काल के प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य की आयु, शरीर की ऊँचाई, बल, तेज वीर्य, ऋद्धि आदि क्रमिक हास होते जाते हैं। उसी प्रकार हास होते-होते जब 4 कोटाकोटी सागर समाप्त हो जाता है तब द्वितीय मध्यम भोग-भूमि प्रारम्भ होती है। जिसका काल प्रमाण तीन कोटाकोटी (900000000000000) सागर प्रमाण होता है। इस काल में शरीर की ऊँचाई 4 मील, आयु दो पल्य प्रमाण होती है। वे लोग दो दिन के बाद तीसरे दिन में बहेड़ा फल के बराबर कल्पवृक्ष से प्राप्त अमृतोपम

भोजन करते हैं। जिस प्रकार उत्तम भोग-भूमि में तीन-तीन दिन में विभिन्न अवस्थाओं को अतिक्रम करके 21 दिनों में युवक अवस्था को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार मध्यम भोग-भूमि में पांच-पांच दिन में एक-एक अवस्था को अतिक्रम करके 35 दिन में युवक अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। यावत् जीवन उत्तम भोग-भूमि में वर्णित समर्त भोग-उपभोग को भोगते हुए सुखपूर्वक जीवन-यापन करते हैं।

जघन्य भोग-भूमि सुषमादुषमा काल-

उच्छेह-पहुदि-खीणे, पविसेदि हु सुसमदुरस्मो कालो ।
तस्म पमाणं सायर-उवमाणं दोणिं कोडिकोडीओ ।(403)।

उत्सेधादिक के क्षीण होने पर सुषमादुषमा काल प्रवेश करता है। उस काल का प्रमाण दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।

तक्कालादिम्मि णराणुच्छेहो दो सहस्र-चावाणि ।
एक-पलिदोवमाऊ, पियंगु- सारिच्छ-वण्ण-धरा ।(404)।

उस काल के प्रारम्भ में मनुष्यों की ऊँचाई दो हजार धनुष, आयु एक पल्योपम प्रमाण और वर्ण प्रियंगु फल के समान होता है।

चउसड्डी पुड्डीए, णराण- णारीण होंति अड्डी वि ।
अच्छर-सरिसा रामा, अमर- समाणो णरो होदि ।(405)।

उस काल में स्त्री-पुरुषों के पृष्ठभाग में चौंसठ हड्डियाँ होती हैं तथा नारियाँ अप्सराओं के समान और पुरुष देवों के समान होते हैं।

तक्काले ते मणुवा, आमलक-पमाणममिय-आहारं ।
भुंजंति दिणंतरिया, समचउसस्संग-संठाणा ।(406)।

उस काल में वे मनुष्य समचतुरस्स संस्थान से युक्त होते हुए दिन के अन्तराल से अँवले के बराबर अमृतमय आहार को ग्रहण करते हैं।

तस्मि संजादाणं, सयणोवरि बालयाण सुत्ताणं ।
णिय-अंगुद्वय-लिहणे, सत्त दिणाणीं पवद्यंति ।(407)।

उस काल में उत्पन्न हुए बालकों के शर्या पर सोते हुए अपने अंगूठे के छूसने में सात दिन व्यतीत होते हैं।

बइसण-अथिर-गमणं, थिर-गमण-कला-गुणेण पत्तेकं ।
तारुणेणं सम्मतं, गहणं जोगेण सत्त-दिणं ।(408)।

इसके पश्चात् उपवेशन, अस्थिरगमन, स्थिरगमन, कलागुण प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता, इनमें से प्रत्येक अवस्था में क्रमशः सात-सात दिन जाते हैं।

एत्तिय-मेत्त-विसेसं, मोक्तूणं सेस-वण्णण-पयारा ।
कालम्मि सुसम-णामे, जे भणिदा एथ वत्तव्वा ।(409)।

इतनी मात्र विशेषताओं को छोड़कर शेष वर्णन के प्रकार, जो सुषमा नामक काल में कहे गये हैं, वही यहाँ पर भी कहना चाहिए।

भोगखिदीए ण होंति हु, चोरारिप्पहुदि-विविह-बाधाओ ।
असि-पहुदि-च्छक्कम्मा, सीदादप-वाद-वरिसाणि ।(410)।

भोग-भूमि में चोर एवं शत्रु आदि की विविध बाधायें, असि इत्यादिक छह कर्म और शीत, आतप, वात्या (प्रचण्ड वायु) एवं वर्षा नहीं होती।

काल परिवर्तन के साथ-साथ भोग-भूमि में भी परिवर्तन हुआ। मध्यम भोग-भूमि के बाद जघन्य भोग-भूमि का आगमन हुआ। जिस काल की अवधि दो कोटाकोटी सागर (40000000000000) सागर प्रमाण है। मनुष्य के शरीर की ऊँचाई दो मील प्रमाण हैं। अन्य दो भोग-भूमिज मनुष्य के समान जघन्य भोग-भूमिज मनुष्य सात-सात दिन में एक-एक जीवन की अवस्थाओं को अतिक्रम करते-करते सात अवस्था को 49 दिन में अतिक्रम करके युवावस्था को प्राप्त होते हैं। इस काल में आयु, ऋद्धि आदि द्वास

होते जाते हैं। अन्यान्य भोगादि उपर्युक्त भोग-भूमि के समान जानना चाहिए। कल्पवृक्ष से जीवनोपयोगी समरस्त सामग्रियाँ संकल्प मात्र से प्राप्त होने के कारण भोग-भूमि में किसी भी प्रकार के चोरी, डकैती, कालाबाजारी, लुटपाट, आक्रमण, प्रतिआक्रमण, बैर-विरोध नहीं होता है। असि-मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प सेवादि छहों कर्मों का भी प्रचलन नहीं रहता है। इतना ही नहीं, प्राकृतिक कोप, शीत, उष्ण, झंझावायु, वर्षा आदि भी तीनों भोग-भूमि में नहीं होती हैं। तीनों भोग-भूमिज मनुष्य तथा पशु विनोद प्रिय, सरल स्वभावी, मानसिक तनाव से रहित, शाकाहारी, निरोग, विलास- प्रिय, क्रीड़ारत, प्रशस्त मन वाले होते हैं। तिर्यच तथा मनुष्य मार्दव आदि गुण से संयुक्त तथा शाकाहारी होने के कारण निश्चित रूप से मृत्यु के उपरान्त यथायोग्य स्वर्ग में ही जाते हैं।

भोग-भूमि में उत्क्रान्ति-

विश्व परिवर्तनशील है। समयानुकूल परिवर्तन होना विश्व का सहज जात स्वभाव है। उत्थान के बाद पतन एवं पतन के बाद उत्थान यह विश्व का एक अकाट्य प्राकृतिक नियम है। इस नियम का अपवाद कर्मभूमी सम्बन्धी भोग - भूमि में भी नहीं होता है। दीर्घ काल प्रायः 9 कोटाकोटी (90000000000000) सागर प्रमाण भोगपूर्ण सुखमय जीवन - यापन के बाद कर्मभूमि में एक प्रकार की नवीन क्रान्ति जन्म लेती है। विपरीत परिस्थिति से जीव अपनी सुरक्षा के लिए विपरीत प्रकृती के विरोध में युद्ध करता है। यह आत्म- सुरक्षा रूपी संघर्ष ही जीव के उत्थान का कारण बन जाता है। जब तक जीवन के संकटमय परिस्थिति नहीं आती है तब तक जीव संघर्ष नहीं करता है और बिना संघर्ष उसकी जीवन- शक्ति गतिशील नहीं होती है। इसलिए कहा है- 'दुःख मानव की सम्पत्ति है और दुःख मानव को प्रस्तुत करता है'। जिस प्रकार रात्रि के घने अन्धकार के बाद एवं दिवस के जाज्जल्यमान प्रकाश के मध्य में ब्रह्ममुहूर्त आता है, उसी प्रकार भोगपूर्ण तामस काल के बाद तथा आध्यात्मिक उत्क्रान्ति पूर्ण कर्मभूमी

के मध्य में प्रायः पल्य के आठवें भाग प्रमाण उत्थान सूचक कर्मभूमि रूपी ब्रह्ममुहूर्त का मंगलमय काल उदय हुआ था। यह काल मनुष्य समाज का संगठन, संघर्ष उन्नायन, शोध - बोध का काल था। इस समय की अवधि में मनुष्य समाज का मार्गदृष्टा, निर्माणकर्ता, विपत्ति से उद्धार करने वाले, मनुष्य समाज के महान् शिल्पी चौदह मनु (कुलकर) हुए। वे लोग मनुष्य कुल के लिए विशिष्ट महत्वपूर्ण कार्य करने के कारण उनको मनु या कुलकर कहते हैं। उन्होंने मनुष्य समाज के लिए महान् अवदान किये थे - उसका वर्णन जैनाचार्य श्री यतिवृषभ ने प्राचीन विश्व कोष के समान तिलोय पण्णति में निम्न प्रकार से वर्णन किया है-

पलिदोवमद्धमसे, किंचूणे तदिय - काल - अवसेसे।
पढमो कुलकर - पुरिसो, उप्पञ्चदि पडिसुदी सुवण्ण - णिहो।(421)

कुछ कम एक पल्योपम के आठवें भागमात्र तृतीय काल के शेष रहने पर सुवर्ण के सदृश प्रभा से युक्त प्रतिश्रुति नामक प्रथम कुलकर पुरुष उत्पन्न होता है।

एक सहस्रं अडसय - सहिदं चावाणि तस्स उच्छेहो।
पल्लस्स दसमभागो, आऊ देवी सयंपहा णाम।(422)

उसके शरीर का उत्तरोध एक हजार आठ सौ धनुष, आयु पल्य के दशवें भाग प्रमाण, और देवी स्वयंप्रभा नामक थी।

णभ-गज-घंट-णिहाणं, चंदाइच्याण मंडलाणि तदा।
आसाढ-पुण्णिमाए, दट्टूणं भोगभूमिजा सव्वे।(423)
आकस्मिकमदिघोरं, उप्पाद जादमेदमिदि मत्ता।
पञ्चाउला पकंपं, पत्ता पवणेण पहद-रुक्खोद्व।(424)

उस समय भोग-भूमिज आषाढ़ मास की पूर्णिमा को आकाश रूपी हाथी के घंटे के सदृश चन्द्र और सूर्य के मण्डलों को देखकर यह कोई

आकर्षिक महाभयानक उत्पात हुआ है' ऐसा समझकर व्याकुल होते हुए
वायु से आहत वृक्ष के समान प्रकम्पन को प्राप्त हुए।

पडिसुद-णामो कुलकर-पुरिसो एदाण देइअभय-गिरं।
तेजंगा कालवसा, संजादा मंद- किरणोघा ॥(425)॥
तक्कारणेण एण्हं, ससहर-रविमंडलाणि गयणम्मि।
पयडाणि णत्थि तुम्हं, एदाण दिसाए भय-हेदू॥(426)॥

तब प्रतिश्रुति नामक कुलकर पुरुष ने उनको निर्भय करने वाली वाणी
से बतलाया कि कालवश अब तेजांग जाति के कल्पवृक्षों के किरण समूह
मंद पड़ गये हैं, इस कारण इस समय आकाश में चन्द्र और सूर्य के मण्डल
प्रकट हुए हैं। इनकी ओर से तुम लोगों को भय का कोई कारण नहीं है।

णिं चिय एदाणं, उदयस्थमणाणि होंति आयासे।
पडिहद-किरणाण पुढं तेयंगदुमाण तेएहिं॥(427)॥

आकाश में यद्यपि इनका उदय और अस्त नित्य ही होता रहा है परन्तु
तेजांग जाति के कल्पवृक्षों के तेज से इनकी किरणों के प्रतिहत होने से वे
पहिले प्रगट नहीं दिखते थे।

जंबूदीवे मेरुं, कुव्वंति पदाहिणं तरणि-चन्दा।
रत्ति-दिणाण विभांग, कुणमाणा किरण -सत्तीए॥(428)॥

जंबूदीप में से सूर्य और चन्द्रमा अपनी किरण शक्ति से रात्रि-दिन
के विभाग को करते हुए मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा किया करते हैं।

सोऊण तरस वयणं, संजादा णिभया तदा सव्वे।
अच्यंति चलण-कमले, थुण्ठि बहुविह-पयारेहिं॥(429)॥

इस प्रकार उन प्रतिश्रुति कुलकर के वचनों को सुनकर वे सब नर-नारी
निर्भय होकर बहुत प्रकार से उनके चरण कमलों की पूजा और स्तुति करते
हैं।

पडिसुद-मरणादु तदा, पञ्चसासीदिमंस-विच्छेदे।
उप्पञ्चदि बिदिय-मणू, सम्मदि-णामो सुवण्ण-णिहो॥(430)॥

प्रतिश्रुति कुलकर के मृत्यु के पश्चात् पल्य के अस्तीवें भाग के व्यतीत
हो जाने पर सुवर्ण के समान कांति वाला सन्मति नामक द्वितीय मनु उत्पन्न
होता है।

एक-सहस्रं ति-सयस्सहिंद दंडाणि तरस उच्छेहो।
पलिदोपम-सद भागो, आऊ देवी जसस्सदी णामो॥(431)॥

उनके शरीर की ऊँचाई एक हजार तीन सौ धनुष, आयु पल्योपम
के सौवें भाग प्रमाण तथा देवी का नाम यशरवती था।

तक्काले तेयंगा, णटु - पभावा हवंति ते सव्वे।
तत्तो सूर्यस्थमणे, ददरूण तमाइ तारालि॥(432)॥

उप्पदा अइघोरा, अदिष्टु - पुव्वा विअंभिदा एदे।
इय भोगज पाण - तिरिया, णिभर - भय - भंभला जादा॥(433)॥

उस समय वे सब तेजांग जाति के कल्पवृक्ष नष्ट प्रायः हो जाते हैं,
इसलिए सूर्य के अस्तगत होने पर अंधकार और ताराओं को देखकर 'ये
अत्यन्त भयानक अदृश्य पूर्व उत्पात प्रकट हुए' इस प्रकार वे भोग - भूमिज
मनुष्य और तिर्यच अत्यन्त भय से व्याकुल हुए।

सम्मदिणामो कुलकरपुरिसो भीदाण देहि अभयगिरं।
तेयंगा कालवसा, णिम्मूलयणटु किरणोघा॥(434)॥
तेण तेमं वित्थरिदं, ताराणं मंडलंपि गयणतले।
तुम्हाण णत्थि किंचि वि, एदाण दिसाए भयहेदू॥(435)॥

तब सन्मति नामक कुलकर इन भयभीत हुए भोग - भूमिजों को निर्भय
करने वाली वाणी से बतलाते हैं कि अब कालवश से तेजांग कल्पवृक्षों की
किरण समूह सर्वथा प्रणष्ट हो चुके हैं। इस कारण आकाश प्रदेश में इस

समय अन्धकार और ताराओं का समूह भी फैल गया है। तुम लोगों को इनकी ओर से कुछ भी भय का कारण नहीं है।

अथि सदा अंधारं, ताराओ तेयंगतरुगणेहिं।
पडिहद किरणा पुव्वं, कालव सेणञ्ज पायडा जादा।(436)

अंधकार और तारागण तो सदा ही रहते हैं, किन्तु पूर्व में तेजांग जाति के कल्पवृक्षों के समूहों से वे प्रतिहत किरण थे, सो अब आज के वश से प्रकट हो गये हैं।

जम्बूदीवे मेरुं, फुव्वंति पदाहिणं गहा तारा।
णक्खत्ता णिञ्चं ते, तेज - विणासा तमो होदि।(437)

ये ग्रह, तारा और नक्षत्र जम्बूद्वीप में नित्य ही मेरु की प्रदक्षिणा किया करते हैं। तेज के विनाश से ही अन्धकार हो रहा है।

सोऊण तरस्स वयणं, संजादा णिभया तदा सव्वे।
अद्यंति चलण - कमले, थुण्टि विविहेहि तुत्तेहिं।(438)

तब कुलकर के वचन को सुनकर वे सब निर्भय हो गये और विविध प्रकार से इराके चरण कमलों की पूजा और रसुति करने लगे।

सम्मदि - सग्ग - पवेसे, अद्व - सयावहिद - पल्ल - विच्छेदे।
खेमंकरो त्ति कुलयर - पुरिसो उप्पञ्चदे तदिओ।(439)

सन्मति नामक इस द्वितीय कुलकर के रवर्गारोहण करने पर आठ सौ से भाजित एक पल्य के पश्चात् क्षेमंकर नामक तीसरा कुलकर पुरुष उत्पन्न हुआ।

अद्व-सय चाव - तुंगो, सहरस्स - हरिदेक्ष - पल्ल - परमाऊ।
चामीयर-सम-वण्णो, तरस्स सुण्दा महादेवी।(440)

इस कुलकर के शरीर की ऊँचाई आठ सौ धनुष, आयु हजार से

भाजित एक पल्य प्रमाण, और वर्ण सुवर्ण जैसा था। इनके सुनन्दा नामक महादेवी थी।

वग्धादि - तिरिय-जीवा, काल वसा क्रूर-भावमावणा।
तव्ययदो भोग-णरा, सव्वे अद्याउला जादा।(441)

उस समय कालवश व्याघ्रादिक तिर्यच जीव क्रूरता को प्राप्त हो गये थे। इस कारण सब भोग-भूमिज मनुष्य उनके भय से अत्यन्त व्याकुल हुए।

खेमंकर-णाम मण् भिदाणं देवि दिव्व - उवदेसं।
कालस्स विकारादो, एदे क्रूरत्तणं पत्ता।(442)
ता एण्हिं विरसासं, पापाणं मा करेज्ज कझया वि।
तासेज्ज कलुस - वयणा, इय भणिदे णिभया जादा।(443)

तब क्षेमंकर नामक मनु उन भयभीत प्राणियों को दिव्य उपदेश देते हैं कि काल के विकार से वे तिर्यच जीव क्रूरता को प्राप्त हुए हैं, इसलिए अब इन पापियों का विश्वास कदापि मत करो, ये विकृतमुख प्राणी तुम्हें त्रास दे सकते हैं। उनके ऐसा कहने पर वे भोग-भूमिज निर्भयता को प्राप्त हुए।

तम्मणुवे तिदिव-गदे, अद्व-सहरस्सावहरिद-पल्लम्मि।
अंतरिदे उप्पञ्चदि, तुरिमो खेमंधरो व मण्।(444)

उस कुलकर का रवर्गवास होने पर आठ हजार से भाजित पल्य प्रमाण काल के अनन्तर क्षेमंकर नामक चतुर्थ मनु उत्पन्न हुए।

तरसुच्छेहो दंडा, सत्त-सया पंचहत्तरी-जुत्ता।
सय-कदि-हिदेक्ष-पल्ला आउ-पमाणं पि एदरस्स।(445)

उसके शरीर की ऊँचाई सात सौ पचहत्तर धनुष और आयु सौ के वर्ग से भाजित एक पल्य प्रमाण थी।

सो कंचण-सम-वण्णो, देवी विमला त्तिरस्स विक्खादा ।
तक्काले सीहादी, क्रूरमया खंति मणुव-मंसाइं ।(446)।

उसका वर्ण सुवर्ण के समान और उसकी 'देवी' 'विमला' इस नाम से विख्यात थी। उस समय क्रूरता को प्राप्त हुए सिंहादिक मनुष्य के मांस को खाने लगे थे।

सीहप्पहुदि -भएण, अदिभीदा भोग-भूमिजा ताहे ।
उवदिसदि मणु ताण, दंडादि सुरक्खवणोवायं ।(447)।

तब सिंहादिक के भय से अत्यन्त भयभीत हुए भोग-भूमिजों को क्षेमंकर मनु ने उनसे अपने संरक्षण के उपायभूत दण्डादिक के रखने का उपदेश दिया।

तम्मणुवे णाक-गदे, सीदी-सहरसावहरिद-पल्लम्मि ।
अंतरिदे पंचमओ, जम्मदि सीमंकरो त्ति मणू ।(448)।

इस कुलकर के रथर्ग गमन के पश्चात् अररी हजार से भाजित पल्यप्रमाण काल के अन्तर से पाँचवे सीमंकर मनु का जन्म हुआ।

तरसुच्छेहो दंडा, पण्णासब्महिय-सत्त-सय-मेत्ता ।
लक्खेण भजिद-पल्लं, आऊ वण्णो सुवण्ण-णिहो ।(449)।

उसके शरीर का उत्सेध सात सौ पचास धनुष, आयु एक लाख से भाजित पल्यप्रमाण, और वर्ण सुवर्ण के सदृश था।

देवी तरस्स पसिद्धा, णामेण मणोहरि त्ति तक्काले ।
कप्पतरु अप्प फला, अदिलोहो होदि मणुवाणं ।(450)।

उसकी देवी मनोहारी नाम से प्रसिद्ध थी। इस कुलकर के समय में कल्पवृक्ष अल्प फल देने लगे थे, और मनुष्यों में लोभ अत्यन्त हो चला था।

सुरतरु-लुद्धा जुगला, अणोण्णं ते कुणांति संवादं ।
सीमंकरेण सीमं, कादूण णिवारिदा सव्वे ।(451)।

वे भोग-भूमिज युगल कल्पवृक्षों के विषय में लोभ युक्त होकर परस्पर में विवाद करने लगे। तब सीमंकर कुलकर ने सीमा करके उन सबको परस्पर संघर्ष से रोका।

सिक्खं कुणांति ताणं, पडिसुदि-पहुदी कुलंकरा पंच ।
सिक्खण-कम्म-णिमित्तं, दंडं कुव्वंति हाकारं ।(452)।

उपर्युक्त प्रतिश्रुति आदि पाँच कुलकर उन भोग-भूमिजों को शिक्षा देते हैं और इस शिक्षण कार्य के निमित्त 'हा' इस प्रकार का दण्ड भी करते हैं।

तम्मणुवे तिदिव-गदे, अड-लक्खावहिद-पल्ल-परिकंते ।
सीमंधरो त्ति छड्हो, उपञ्जदि कुलकरो पुरिसो ।(453)।

इस कुलकर के स्वर्गगमन के पश्चात् आठ लाख से भाजित पल्यप्रमाण काल के व्यतीत होने पर सीमन्धर नामक छठा कुलकर पुरुष उत्पन्न होता है।

तरसुच्छेहो दंडा, पण्णीसब्महिय-सत्त-सय-मेत्ता ।
दस-लक्ख-भजिद-पल्लं, आऊ देवी जसोहराणाम ।(454)।

उसके शरीर का उत्सेध सात सौ पचीस धनुष और आयु दस लाख से भाजित पल्य प्रमाण थी। इसकी देवी का नाम यशोधरा था।

तक्काले कप्पदुमा, अदिविरला अप्प-फल-रसा होंति ।
भोग-णराणं तेसुं, कलहो उपञ्जदे णिघं ।(455)।

इस कुलकर के समय कल्पवृक्ष अत्यन्त विरल और अल्प फल व रस से युक्त हो जाते हैं। इसलिए भोग-भूमिज मनुष्यों के बीच इनके विषय में नित्य ही कलह उत्पन्न होने लगता है।

सत्प्रकलह-णिवारण-हेदूओ ताण कुणइ सीमाओ।
तरु-गुच्छादी चिण्हं, तेण य सीमंधरो भणिओ।(456)

वह कुलकर इस सब कलह को दूर करने के निमित्तभूत वृक्ष समूहादिक को चिन्ह रूप मानकर सीमा नियत करता है। इसलिए वह सीमंकर कहा गया है।

तम्मणुवे सग-गदे, असीदि-लक्खावहरिद-पलम्मि।
वोलीणे उप्पण्णो, सत्तमओ विमलवाहणो त्ति मणू।(457)

इस मनु के स्वर्गागमन के पश्चात् अरसी लाख से भाजित पल्यप्रमाण काल का व्यतिक्रम होने पर विमलवाहन नामक सातवाँ मनु उत्पन्न हुआ।

सत्त-सय-चाव-तुगो, इगि-कोडी-भजिद-पल्य-परमाऊ।
कंचण-सरिच्छ-वण्णो, सुमदी-णामा महादेवी।(458)

यह मनु सात सौ धनुष प्रमाण ऊँचा, एक करोड़ से भाजित पल्यप्रमाण आयु का धारक और सुवर्ण के सदृश वर्णवाला था। इसके सुमति नाम की देवी थी।

तक्काले भोग-णरा, गमणागमणेहि पीडिदा संता।
आरोहंति करिद-प्पहुंदि तरसोवदेसेण।(459)

इसके समय में गमनागमन से पीड़ा को प्राप्त हुए भोग-भूमिज मनुष्य इस मनु के उपदेश से हाथी आदि पर सवार होने लगे।

सत्तमए-णाक-गदे, अड-कोडी-भजिद-पल्न-विच्छेद।
उप्पञ्चदि अड्डमओ, चक्खुम्मो कण्य-वण्ण-तणू।(460)

सप्तम कुलकर के स्वर्गरथ होने पर आठ करोड़ से भाजित पल्यप्रमाण काल के पश्चात् सुवर्ण के सदृश वर्ण वाले शरीर से युक्त चक्षुष्मान नामक आठवाँ कुलकर उत्पन्न होता है।

तरसुच्छेहो दंडा, पणवीस-विहीण- सत्त-सय-मेत्ता।
दस-कोडी-भजिदमेकं, पलिदोवममाउ-परिमाण।(461)

उसके शरीर की ऊँचाई पचीस कम सात सौ धनुष और आयु दस करोड़ से भाजित एक पल्यप्रमाण थी।

देवी धारिणी-णामा, तक्काले भोगभूमि-जुगलाणं।
संजणिदे णिय-बाले, दट्टूण महब्यं होदि।(462)

इस कुलकर के धारिणी नाम की देवी थी। इसके रागय में उत्पन्न हुए अपने बालयुगल को देखकर भोग-भूमिज युगलों को महाभय उपरिथित होता है।

एस मणू भीदाणं, ताणं भारसेदि दिव्यमुवदेसं।
तुम्हाण सुदा एदे, पेच्छह पुण्णिंदु-सुन्दरं वदणं।(463)

तब यह आठवाँ मनु उन भयभीत भोग-भूमिज युगलों को दिव्य उपदेश देता है कि ये तुम्हारे पुत्र-पुत्री हैं, इनके पूर्ण चन्द्र के समान सुन्दर मुख को देखो।

तम्मणु-उवएसादो, बालय- वदणाणि देक्खिदूण पुढं।
भोग-णरा तक्काले, आउ-विहीणा विलीयंति।(464)

इस प्रकार इस मनु के उपदेश से रप्त रूप से अपने बालकों के मुख को देखकर वे भोग-भूमिज युगल तत्काल ही आयु से रहित होकर विलीन हो जाते हैं।

अड्डमए णाक-गदे, असीदि-कोडीहि भजिद-पलम्मि।
वोलीणे उप्पञ्चदि, जसस्सि-णामो मणू णवमो।(465)

आठवें कुलकर के स्वर्गागमन के पश्चात् अरसी करोड़ से भाजित पल्य के व्यतीत होने पर यशस्वी नामक नवम मनु उत्पन्न हुआ।

पण्णासाधिय-छर्सय-कोदंड-पमाण-देह-उच्छेहो ।

कंचण-वण्ण-सरिरो, सय-कोडी-भजिद-पल्लाऊ ।(466)।

इसका शरीर सुवर्ण जैसा वर्ण वाला था, जो 6 सौ पचास धनुष ऊँचा था और आयु सौ करोड़ से भाजित पल्योपम प्रमाण थी ।

णामेण कंतमाला, हवेदि देवी इमस्स तक्काले ।

णामकरणुच्छव्वं, उवदेसं देदि जुगलाणं ।(467)।

इसके कंतमाला नाम की देवी थी। उस समय यह युगलों को अपनी सन्तान के नामकरण के उत्सव के लिये उपदेश देता है ।

लद्धूणं उवदेसं, णामाणि कुणंति ते वि बालाणं ।

णिवसिय योवं कालं, पक्खीणाऊ विलीयंति ।(468)।

इस उपदेश को पाकर वे युगल भी बालकों के नामों को करते हैं और थोड़े समय रहकर आयु के क्षीण होने पर विलीन हो जाते हैं ।

णवमे सुरलोय-गदे, अडसय-कोडीहिं भजिद-पल्लम्मि ।

अंतरिदे उप्पञ्चदि, अहिचंदो णाम दसम-मणू ।(469)।

नवम कुलकर के स्वर्गस्थ होने पर आठ सौ करोड़ से भाजित पल्य के अनन्तर अभिचन्द्र नामक दसवाँ मनु उत्पन्न होता है ।

पणुवीसाधिय-छर्सय-कोदंड पमाण-देह-उच्छेहो ।

कोडी-सहरस-भजिदा पलिदोवममेत्त-परमाऊ ।(470)।

उसके शरीर की ऊँचाई छह: सौ पचीस धनुष और आयु एक हजार करोड़ से भाजित पल्योपम प्रमाण थी ।

कंचण-समाण-वण्णो, देवी णामेण सिरिमदी तर्स ।

सो वि सिसूणं रोदण-वारण-हेदु कहेदि उवदेसं ।(471)।

उसके शरीर का वर्ण सुवर्ण के समान ओर देवी का नाम श्रीमती था ।

वह भी बालकों के रुदन को रोकने के निमित्त उपदेश देता है ।

रत्तीए ससिबिबं, दरिसिय खेलावणाणि कादूणं ।

ताण वयणोवदेसं, सिक्खावावह कुणह जदणं मि ।(472)।

रात्रि में चन्द्रमण्डल को दिखलाकर और खिलावन करके उन्हें वचनोपदेश अर्थात् बोलना सिखाओ और उनका यत्न(पूर्वक रक्षण)करो ।

सोउणं उवएसं, भोग-णरा तह करंति बालाणं ।

अच्छिय थोव-दिणाइं, पक्खीणाऊ विलीयंति ।(473)।

इस उपदेश को सुनकर भोग-भूमिज मनुष्य बालकों के साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं। अब वे(युगल) थोड़े दिन रहकर आयु के क्षीण होने पर विलीन हो जाते हैं ।

लोहेणाभिहाणं, सीमंधर-पहुदि-कुलकरा पंच ।

ताणं सिक्खण-हेदुं, हा-मा-कारं कुणंति दंडत्थं ।(474)।

सीमंकरादिक पाँच कुलकर लोभ से आक्रान्त उन युगलों के शिक्षण के निमित्त दण्ड के लिए 'हा' (खेदप्रकाशक) और 'मा' (निषेध-सूचक) इन दो शब्दों का उपयोग करते हैं ।

अहिचंदे तिदिव-गदे, दस-धण-हद-अहु-कोडी-हिद-पल्ले ।

अतंरिदे चंदाहो, एकारसमो हवेदि मणू ।(475)।

अभिचन्द्र कुलकर के स्वर्गारोहण करने पर दस के घन अर्थात् एक हजार से गुणित आठ करोड़ से भाजित पल्यप्रमाण अन्तराल के पश्चात् चन्द्राभ नामक ग्यारवां मनु उत्पन्न होता है ।

1

प. $\frac{1}{80000000000}$

छर्सय-दंडुच्छेहो, वर-चामीयर-सरिच्छ-तणु-वण्णो ।

दस-कोडी-सहरसेहि, भाजिद-पल्य-प्पमाणाऊ ।(476)।

उसके शरीर की ऊँचाई ४. सौ धनुष, शरीर का वर्ण उत्तम सुवर्ण
जैसा और आयु दस हजार करोड़ से भाजित पल्योपम प्रमाण थी।

1
ऊँचाई ध. 600; आयु प. 100000000000

णिरुवम-लावण्ण-जुदा, तरस्स व देवी पहावदी णामा।
तक्काले अदिसीदं, होदि तुसारं च अदिवाऽ।(477)।

इस कुलकर के अनुपम लावण्ण से युक्त प्रभावती नाम की देवी थी।
उस समय अति शीत, तुषार और अति वायु चलने लगी।

सीदाणिल-फासादो, अदिदुक्खं पीविदूण भोगणरा।
चंदादी-जोदि-गणे, तुसार छणे ण पेच्छंति।(478)।

शीत वायु के स्पर्श से अत्यन्त दुःख पाकर वे भोग-भूमिज मनुष्य
तुषार से आच्छन्न चन्द्रादिक ज्योतिष समूह को नहीं देख पाते।

अदि-भीदाण इमाणं, चेंदाहो देदि दिव्व-उवदेसं।
भोगावणि-हाणीए, जादा कम्मक्खिदी णिअडा।(479)।

इस कारण अत्यन्त भय को प्राप्त हुए उन भोग-भूमिज पुरुषों को चन्द्राभ
कुलकर इसका उपदेश देता है, और समझता है कि भोग-भूमि की हानि
होने पर अब कर्म भूमि निकट आ गई है।

कालरस्स विकारादो, एस सहाओ पयद्वुदे णियमा।
णासइ तुसारमेयं, एणिहं मत्तंड- किरणेहिं।(480)।

काल के विचार से नियमतः यह स्वभाव प्रवृत्त हुआ है। अब यह
तुषार सूर्य किरणों से नष्ट होगा।

सोदुण तरस्स वयणं, ते सच्चे भोग भूमिजा मणुवा।
रवि-किरणासिद-सीदा, पत्त-कलत्तेहिं जीवंति।(481)।

उस कुलकर के वचनों को सुनकर वे सब भोग-भूमिज मनुष्य सूर्य
की किरणों से शीत को नष्ट करते हुए पुत्र-कलत्र के साथ जीवित रहने लगे।

चंदाहे सग गदे, सीदि-सहस्रेहि गुणिद-कोडि-हिदे।
पल्ले गयम्मि जम्मइ, मरुदेवो णाम बारसमो।(482)।

चन्द्राभ कुलकर के स्वर्ग जाने पर अस्सी हजार करोड़ से भाजित
पल्य के व्यतीत होने पर मरुदेव नामक बारहवें कुलकर ने जन्म लिया।

पंच-सया पण्णत्तरि-सहिदा चावाणि तरस्स उच्छेहो।
इगि-लक्ख-कोडि-भजिदं, पलिदोवममाउ-परिमाणं।(483)।

उसके शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पचहत्तर धनुष और आयु एक लाख
करोड़ से भाजित पयोपम प्रमाण थी।

1
ऊँचाई ध. 575; आयु प. 100000000000

कंचण-णिहस्स तरस्स य, सच्चा णामेण अणुबमादेवी।
तक्काले गञ्जंता, मेघा वरिसंति तडिवंता।(484)।

सुवर्ण जैसी प्रभा वाले उस कुलकर के सत्या नाम की अनुपम देवी
थी। उसके समय में बिजली युक्त मेघ गरजते हुए बरसने लगे।

कद्म - पवह - णदीओ, अदिडु - पुव्वाओ ताव दट्टूणं।
अदिभीदाण पाराणं काल - विभागं भणेदि मरुदेवी।(485)।

उस समय पूर्व में कहीं नहीं देखी गई कीचड़युक्त जल प्रवाह
वाली नदियों को देखकर अत्यन्त भयभीत हुए भोग - भूमिज मनुष्यों को
मरुदेव काल के विभाग को प्ररूपित करता है।

कालरस्स विकारादो, आसणा होदि तुम्ह कम्म - मही।
णावादीहि णदीणं, उत्तारह भूधरेसु सोवाणे।(486)।

उत्तरिय वाहिणीओ, आरुहिदूण च तुंग - सेलेसुं।
वि - णिवारिद - वारिसाओ, पुत्त - कलत्तेहिं जीवति ।(487)।

काल के विकार से अब कर्मभूमि तुम्हारे निकट है। अब तुम लोग नदियों में नौका आदि डालकर उन्हें पार करो। पहाड़ों पर सीढ़ियों को रचकर चलो, और वर्षाकाल में छत्रादिक को धारण करो। उस कुलकर के वचन सुनकर वे सब भोग - भूमिज मनुष्य नदियों में उतरकर और ऊँचे पहाड़ों पर चढ़कर वर्षा का निवारण करते हुए पुत्र एवं कलत्र के साथ जीवित रहने लगे।

मरुदेवे तिदिव - गदे, अड - कोडी - लक्ख - भजिदपलम्मि ।
अंतरिदे उप्पञ्चदि, पसेणजिणाम तेरसमो ।(488)।

मरुदेव के स्वर्गस्थ हो जाने पर आठ लाख करोड़ से भाजित पल्यप्रमाण अन्तराल के पश्चात् प्रसेनजित् नामक तेरहवां कुलकर उत्पन्न होता है।

1
प. 80000000000000

चामीयर - सम - वण्णो, दस - हद - पणवण्ण - चावउच्छेहो।
दस - कोडि - लक्ख - भाजिद - पलिदोवममेत - परमाऊ ।(489)।

वह कुलकर सुवर्ण के सदृश वर्ण से युक्त, दस से गुणित पचपन अर्थात् पाँच सौ पचास धनुष ऊँचा, और दस लाख करोड़ से भाजित पल्योपमप्रमाण आयु वाला हुआ।

1
ऊँचाई ध. 550, आयु प. 10000000000000

अमिदमदी तद्वेवी, तक्काले वत्ति-पडल-परिवेदा ।
जायंति जुगलबाला, देक्खिय भीदा किमेदमिदि ।(491)।
भय-जुत्ताण णराण, पसेणजिब्मणदि दिव्व-उबदेसं ।
पत्ति-पडलापहरण, कहिदम्मि कुणांति ते सव्वे ।(492)।

उसके अमितमती नामक देवी थी। इसके समय में वर्तिपटल(जरायु) से वोषित युगल बालकों को जन्म लेते देख कर 'यह क्या है' ? इस प्रकार भय से संयुक्त मनुष्यों को प्रसेनजित कुलकर वर्तिपटल के दूर करने का दिव्य उपदेश देते हैं। तब उनके कथनानुसार वे सब मनुष्य वर्तिपटल को दूर करने लगे।

पेच्छंते बालाण, मुहाणि वियरस्त-कमल-सरिसाणि ।
कुव्वंति-पयत्तेण, सिसूण रक्खा णरा सव्वे ।(493)।

तथा, सब भोग-भूमिज मनुष्य विकसित कमल के सदृश बालकों के मुखों को देखने और प्रयत्नपूर्वक उन शिशुओं की रक्षा करने लगे।

तम्मणु-तिदिव-पवेसे, कोडि-हदासीदि-लक्ख-हिद-पल्ले ।
अंतरिदे संभुदो, चोद्दसमो णाभिराअ-मणू ।(494)।

उस मनु के स्वर्गस्थ होने पर अरसी लाख करोड़ से भाजित पल्यप्रमाण काल के अन्तराल से चौदहवें नाभिराय मनु उत्पन्न हुए।

1
प. 80000000000000

पणुवीसुत्तर-पण-सय-चाउच्छेहो सुवण्ण-वण्ण-णिहो ।
इगि-पुव्व-कोडि-आऊ, मरुदेवी णाम तस्स बहू ।(495)।

वह पाँच सौ पचीस धनुष ऊँचा, सुवर्ण के सदृश वर्ण वाला, और एक पूर्व कोटी प्रमाण आयु से युक्त था। उसके मरुदेवी नाम की पत्ति थी।

ऊँचाई ध. 525; आयु पूर्व कोटी।

तस्सिं काले होदि हु, बालाण णाभिणाल-मझदीहं।

तक्कत्तणोवदेसं, कहदि मणू ते पकुव्वंति ।(496)।

उस समय बालकों का नाभिनाल अत्यन्त लम्बा होने लगा था, इसलिए नाभिराय कुलकर उसके काटने का उपदेश देते हैं और वे भोग-भूमिज मनुष्य

वैसा ही करते हैं।

कप्पहुमा पण्डा, ताहे विविहो सहीणि सर्सरिं।
महुर-रसाइ फलाइं, पेच्छंति सहावदो धरित्तीसु ।(497)।

उस समय कल्पवृक्ष नष्ट हो गए और पृथ्वी पर स्वभाव से ही उत्पन्न हुई अनेक प्रकार की औषधियाँ, सर्स्य (धान्यादि) एवं मधुर रस युक्त फल दिखाई देने लगे।

कप्पतरुण विणासे, तिव्व-भया भोग भूमिजा मणुवा।
सव्वे वि णाहिराजं, सरणं पविसंति रक्खेति ।(498)।

कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर तीव्र भय से युक्त सब ही भोग-भूमिज मनुष्य नाभिराय कुलकर की शरण में पहुँचे ओर बोले 'रक्षा करो।'

करुणाए णाहिराओ, णराण उवदिसदि जीवणोवायं।
भुंजह वणप्पदीणं, चोचादीणं फलाइ भक्खार्णि ।(499)।

तब करुणापूर्वक नाभिराय उन मनुष्यों को आजीविका के उपाय का उपदेश देते हैं। चोचादिक (छिलके वाली) वनस्पतियों के भक्षण करने योग्य फलों का संचय करो।

सालि-जव-पल्ल-तुवरी-तिल-मास-प्पहुदि-विविह-धण्णाइं।
उवभुंजहपिंयहतहा, सुरहि-प्पहुदीण दुद्धाणि ।(500)।

शालि, जौ, वल्ल, तूवर, तिल और उड्ढ इत्यादिक विविध प्रकार के धान्यों को खाओ और गाय आदिक के दूध को पीओ।

अण्णं बहु उवदेसं, देदि दयालू णराण सयलाणं।
तं कादूणं सुखिदा, जीवंते तप्पसाएण ।(501)।

इसके अतिरिक्त दयालु नाभिराय उन सब मनुष्यों को और भी बहुत से उपदेश देते हैं। तदनुसार आचरण करके वे सब मनुष्य नाभिराय कुलकर

के प्रसाद से सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे।

पलिदोवम-दसमंसो, ऊणो थोवेण पदिसुदिसाऊ।
अमम अडडं तुडियं, कमलं णलिणं च पउम-पउमंगा ।(502)।
कुमुद-कुमुदंग-णउदा, णउदंगं पव्व-पुव्व-कोडीओ।
सेस-मणूणं आऊ, कमसो केइ णिरुवेति ।(503)।

कुछ कम पल्योपम के दशवें भागप्रमाण प्रतिश्रुति कुलकर की आयु थी। उसके आगे शेष तेरह कुलकरों की आयु क्रम से अमम, अडड, त्रुटित, कमल, नलिन, पदम्, पदमांग, कुमुदांग, नयुत, नयुतांग, पर्व ओर पूर्व कोटी प्रमाण थी, ऐसा कोई आर्चाय कहते हैं।

एदे चउदस मणुओ, पडिसुद-पहुदि हु णाहिरायंता।
पुव्व-भवम्मि विदेहे, रायकुमारा महाकुले जादा ।(504)।

प्रतिश्रुति को आदि लेकर नाभिराय पर्यन्त ये चोदह मनु पूर्वभव में विदेह क्षेत्र के भीतर महाकुल में राजकुमार थे।

कुसला दाणादीसुं रंजम-तव-णाणवंत-पत्ताणं।
णिय-जोग्ग-अणुद्वाणा, मद्व-अञ्जव-गुणेहि संजुत्ता ।(505)।
मिच्छत्त-भावणाए, भोगाउं बंधित्तुण ते सव्वे।
पच्छा खाइय-सम्मं, गेण्हंति जिणिद चलण-मूलम्हि ।(506)।

वे सब संयम, तप और ज्ञान से युक्त पात्रों के लिए दानादिक के देने में कुशल, अपने योग्य अनुष्ठान से संयुक्त और मार्दव, आर्जव गुणों से सहित होते हुए पूर्व में मिथ्यात्व भावना से भोग भूमि की आयु को बांधकर पश्चात् जिनेन्द्र भगवान् के चरणों के समीप क्षायिक सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं।

णिय-जोग्ग-सुदं पदिदा, खीणे आउम्हि ओहिणाण-जुदा।
उप्पञ्जिदूण भोगे, केइ णरा ओहि-णाणेण ।(507)।

जादि-भरणेण केर्इ, भोग-मणुरसाण जीवणोवायं।
भासंति जेण तेण, मणुणो भणिदा मुणिदेहिं।(508)।

अपने योग्य श्रुत को पढ़कर इन राजकुमारों में से कितने ही आयु के क्षीण होने पर अवधि ज्ञान के साथ भोग-भूमि में मनुष्य उत्पन्न होकर अवधि ज्ञान से और कितने ही जाति-स्मरण से भोग भूमिज मनुष्यों को जीवन के उपाय बतलाये हैं, इसलिए मुनीन्द्रों के द्वारा ये 'मनु' कहे गये हैं।

कुल-धारणादु सव्ये, कुलधर-णामेण भुवण-विक्खादा।
कुल-करणम्भि य कुसला, कुलकर-णामेण-सुपसिद्धा।(509)।
एत्तो सलाय-पुरिसा, तेसद्वी सयल-भुवण-विक्खादा।
जायंति भरह-खेते, णरसीहा पुण्ण-पाकेण।(510)।

ये सब कुलों के धारण करने से 'कुलधर' नाम से और कुलों के करने में कुशल होने से 'कुलकर' नाम से भी लोक में प्रसिद्ध हैं। भरत क्षेत्र में पुण्योदय से मनुष्यों में श्रेष्ठ ओर सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध 63 शलाका पुरुष उत्पन्न होने लगते हैं। भोग-भूमि की परिस्थिति काल चक्र के अनुसार परिवर्तन होती गई। पहले कल्पवृक्ष में जो शक्ति थी वह शक्ति भी क्षीणतम होती गई। पहले तेजांग कल्पवृक्ष के कारण भोग-भूमि इतनी प्रकाशित होती थी जिसके कारण आकाश में शाश्वतिक रूप से अनादि से सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि ज्योतिष विमान होते हुए भी भोग भूमिजों को नहीं दिखाई देते थे। कल्पवृक्ष की ज्योति क्षीण होने के कारण सूर्य चन्द्र दिखने लगे। अपरिचित तेजीयान चन्द्र-सूर्य को आकाश में देखकर उस समय की जनता भयभीत हुई। यह भय का कारण उनकी अज्ञानता थी। उस समय में जनता को यथार्थ उपदेश को देकर भय को दूर करने वाले एक महान् पुरुष हुए जिनका नाम प्रतिश्रुति था। वे मनुष्य कुल कि अज्ञानता, भय, दुःख मिटाने के कारण उनको कुलकर या मनु कह कर पुकारा गया। इसी प्रकार उत्तरोत्तर कल्पवृक्ष की ज्योति नष्ट प्रायः होने से आकाश में तारे दिखाई दिये। जिसको देखकर उस समय

की जनता भयभीत हुई और उनका भय यथार्थ उपदेश से दूर करने वाले द्वितीय सन्मति नामक मनु हुए। भोग भूमि के उत्तम वातावरण में जो व्याघ्र आदि पशु मनुष्य के साथ प्रेम-मैत्री से क्रीड़ा करते थे वे ही काल परिवर्तन से कूर हो गए जिससे उस समय के मनुष्य उनसे सन्त्रस्त हुए। क्षेमंकर नामक तीसरे कुलकर उन हिंसक प्राणियों से दूर रहने का उपाय बताया। काल क्रम से वे ही पशु जो पहले शुद्ध शाकाहारी थे, मनुष्यों को मारकर भक्षण करने लगे। उनसे अपनी आत्म रक्षा करने के लिये दण्डादिक रखने के लिये चतुर्थ मनु क्षेमंकर ने बताया। पहले कल्पवृक्ष यथेष्ट जीवन यापन सामग्री को इच्छा मात्र से देने के कारण पहले की प्रजा निर्लोभ से परस्पर प्रेम-प्रीति रूप से स्वतंत्र रूप से रहते थे। परन्तु कल्पवृक्ष कम फल देने से आवश्यकता पूर्ण नहीं हुई जिससे लोभ बढ़ा और लोभ के कारण संघर्ष किए। उस संघर्ष को मिटाने के लिए पांचवे सीमंकर मनु ने अलग-अलग व्यक्ति के लिये अलग-अलग सीमा निर्धारण करके संघर्ष दूर किया। भोग प्रधान काल में किसी प्रकार सामाजिक अनीति न होने के कारण उस समय में अनीति के प्रतिकार स्वरूप दण्ड व्यवस्था नहीं थी। जिस प्रकार निरोगी व्यक्ति की किसी भी प्रकार की चिकित्सा नहीं होती है। जिस प्रकार चिकित्सा का मूल कारण रोग है उसी प्रकार दण्ड का मूल कारण अन्याय अत्याचार है। काल परिवर्तन होने के साथ-साथ मनुष्य भी अन्याय करने लगे, जिससे उस अन्याय का शोधन करने के लिये प्रतिश्रुति से लेकर सीमंकर पर्यन्त पाँचों मनु केवल 'हा' (खेद है) दण्ड का प्रयोग किये। केवल उस समय 'हा' शब्द से लोगों को इतना पश्चाताप, अपमान, दुःख एवं ताड़न मिलता था जिससे वे अनैतिक कार्य करने के लिये भयभीत होकर परांगमुख (विमुख) होते थे।

आगे कल्पवृक्ष नष्ट होते गए और जो कुछ बचे वे भी कम फल देने लगे जिससे लोगों की आवश्यकता पूर्ण नहीं हुई। उस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये छीना-झपटी हुई जिससे कलह हुई। छह मनु सीमंकर ने वृक्षों को चिन्ह रूप से निर्धारण कर सीमा निश्चित कर दिये। गमनागमन

करने के लिये विमल वाहन नामक सातवाँ मनु हाथी आदि के प्रयोग बताये।

पहले बच्चे उत्पन्न होने के बाद ही माता-पिता मरण को प्राप्त हो जाते थे। जिससे माता-पिता बच्चों को देख ही नहीं पाते थे परन्तु अब सन्तान के जन्म होने के कुछ समय तक माता-पिता जीवित रहने लगे, जिससे बच्चों को देखकर माता-पिता अजीब सी घटना मानकर भयभीत होने लगे। अष्टम मनु चक्षुष्मान उनको संबोधन किये और कहे कि आप लोग भयभीत न होवें ये आप की संतान हैं।

कालक्रम से संतान उत्पत्ति के पश्चात् भी कुछ अधिक समय तक जीवित रहने लगे। तब नवमें मनु अभिचन्द्र बालकों के रुदन को रोकने का उपदेश दिए। वे बच्चों का चन्दा मामा दिखाने का, बच्चों के खेलने का और बोलने के लिए प्रेरणा दिए। पाँचवे मनु के पश्चात् अनीति-अन्याय अधिक होने लगा जिसके कारण छठवें मनु से लेकर 10 वें मनु तक "हा" दण्ड के साथ "मा" (मत करो) दण्ड को जोड़ दिया अर्थात् कोई अनैतिक कार्य करने पर "हा मा" (खेद है इस प्रकार मत करो) शब्द रूप दण्ड का प्रयोग किया जाता था। दशवें मनु के बाद अत्यन्त शीत-तुषार वायु चलने लगी जिससे लोगों को शीत जनित बाधा के साथ-साथ चन्द्रादिक दिखाई नहीं दिए। इस कष्ट को दूर करने के लिये "चन्द्राभ" नामक ग्याहरवें कुलकर उपाय बताये। उन्होंने कहा भोग-भूमि के हास से तथा कर्म भूमि युग निकट होने के कारण यह सब प्राकृतिक उत्क्रांति तथा परिवर्तन है। सूर्य उदय होने के बाद सूर्य किरण से तुषार विलीन हो जायेगा। शीत कष्ट दूर करने के लिये सूर्य- ताप सेवन करने का उपदेश दिया। ऐतिहासिक विज्ञा, जो मानते हैं कि बहुत पहले एक महा हिमयुग था वह हिम युग संभवतः यह ही हो भी सकता है।

पहले वर्षा होने के लिए अयोग्य परिस्थिति होने के कारण वर्षा नहीं होती थी। शीत युग के पश्चात् (हिम युग) बारहवें मनु मरुदेव के समय में बिजली से चमकते भयंकर शब्द करते हुए वर्षा होने लगी। वर्षा के कारण

वर्षा का पानी उच्च स्थान से बहकर नदियों में बहने लगा। उपरोक्त कारण से मनुष्यों को जो कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ा उस परिस्थिति से बचने के लिये मरुदेव छाता आदि का प्रयोग बताये। इससे सिद्ध होता है कि अति प्राचीन काल से जलयान, छातादियों का प्रयोग चल रहा है।

पहले जरायु (सन्तान उत्पत्ति के समय जो चर्म की थैली रहती है) से रहित सन्तान उत्पन्न होती है। जलवायु, परिस्थिति, काल परिवर्तन के साथ-साथ सन्तान जरायुज से वैष्टि होकर जन्म लेने लगी। जरायुज से वैष्टि सन्तान को देखकर माता-पिता भयभीत हुए। तेरहवें कुलकर 'प्रसेनजित' जरायु को दूर करने का उपदेश दिए।

इस समय माता-पिता शिशुओं की रक्षा कुछ समय के करने के पश्चात् मरण को प्राप्त हो जाते थे। काल क्रम से सन्तानों का नाभिनाल अधिक लम्बा होने के कारण चोदहवें मनु 'नाभिराज' नाभि को काटने का उपदेश दिए।

नाभिराज के समय में कल्पवृक्ष नष्ट हो गये और परिस्थिति, परिवर्तन एवं वर्षा के कारण भूपृष्ठ में अनेक मधुर रसयुक्त औषध गुण युक्त वनस्पतियाँ उत्पन्न होने लगी। भोग - भूमिज लोग कल्पवृक्ष से ही जीवन - यापन करने की प्रणाली जानते थे अन्य प्रणाली के बारे में पूर्ण अनभिज्ञ थे। इसलिए कल्पवृक्ष के अभाव से भी उन्होंने क्षुधार्थ के कारण भयभीत होकर जीवन - यापन की प्रणाली नाभिराज से पूछी। नाभिराज जीवन - यापन के अनेक उपायों के साथ - 2 वनस्पति से सहज प्राप्त धान्य रस तथा गायादि से दूध आदि प्राप्त करके सुख से रहने का उपदेश देकर उनका भय निवारण किए। इसी प्रकार उपरोक्त 14 मनुओं ने विभिन्न समयों के जो मनुष्यों के ऊपर प्राकृतिक, अप्राकृतिक विपत्ति - आपत्ति संकट आये थे उनका यत्नपूर्वक निवारण करके मनुष्य समाज का बहुत ही महत्व पूर्ण उपकार किए थे। मनुष्य समाज के आद्य उपदेशक, मार्ग प्रदर्शक उपरोक्त हितकांक्षी मनु ही थे। इसलिए मनुओं का योगदान मनुष्य समाज के लिए प्रधान एवं प्रथम था।

उपरोक्त मनु पूर्व भव मे संस्कारित राजकुमार थे। उस पूर्व संस्कारित से प्रेरित होकर और उनमे जो विशेष अवधि एवं जाति रमरण ज्ञान प्राप्त हुआ था उस ज्ञान के माध्यम से मनुष्य कुल को मार्ग प्रदर्शन करके मनु कहलाने योग्य बने थे।

उपर्युक्त विषय को और भी प्रमाणित करने के लिए यहाँ मैं हरिवंश पुराण का संदर्भ भी देना उचित समझता हूँ। हरिवंश पुराण मे वर्णन है कि -

दश कोडाकोडी अद्वासागरोंकी एक अवसर्पिणी तथा उतने ही सागरों की एक उत्सर्पिणी होती है। इसमें प्रत्येक के छहछह भेद हैं। जिसमें वर्स्तुओं की शक्ति क्रम से घटती जाती है उसे अवसर्पिणी और जिसमें बढ़ती जाती है उसे उत्सर्पिणी कहते हैं। इनका अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नाम सार्थक है। (1) सुषमासुषमा, (2) सुषमा, (3) सुषमादुःषमा, (4) दुःषमा - सुषमा, (5) दुःषमा और (6) दुःषमादुःषमा ये अवसर्पिणी के छह भेद हैं और इससे उल्टे अर्थात् (1) दुःषमादुःषमा, (2) दुःषमा, (3) सुषमादुःषमा, (4) दुःषमासुषमा, (5) सुषमा और (6) सुषमासुषमा ये छह उत्सर्पिणी के भेद हैं। (ह.पु.पृ. - 136)

युगों के प्रमाण -

प्रारम्भ के तीन कालों का प्रमाण क्रमसे चार कोडाकोडी सागर, तीन कोडाकोडी सागर और दो कोडाकोडी सागर है। चौथे काल का प्रमाण बयालीरा हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागर है और पाँचवें तथा छहवें काल का प्रमाण इक्कीस - 2 हजार वर्ष प्रमाण है। जिस प्रकार दस कोडाकोडी सागर का अवसर्पिणी काल है उसी प्रकार दस कोडाकोडी सागर का उत्सर्पिणी काल है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों मिलकर कल्प काल कहलाते हैं। इन दोनों कालों के समय भरत - ऐरावत क्षेत्र में पदार्थ की स्थिति हानि और वृद्धि को लिए हुए होती है। इन दोनों क्षेत्रों के सिवाय अन्य क्षेत्रों में पदार्थों की स्थिति हानि वृद्धि से रहित - अवस्थित है।

तीनों काल में भरत की अवस्थिति -

आद्येषु त्रिषु कालेषु कल्पवृक्षविभूषिता ।
भोगभूमिरिय भूमिर्भूमिरस्तु भारती ।(64)
युग्मधर्मभुजो भूत्वा तेषामादौ जगत्प्रजा : ।
षट्वतुर्द्विसहस्राणि धनूषि वपुषोचित्राः ।(65)
आयुस्त्रिद्वयकपल्यैस्तु तुल्यं तासां यथाक्रमम् ।
देवोत्तरकुरुक्षेत्रहरिहैमवतेष्विव ।(66)

प्रारम्भ के तीन कालों में भरत क्षेत्र की यह भूमि भोग-भूमि कहलाती है जो कि यथार्थ में नाना प्रकार के भोगों की भूमि-रथान भी है। उन तीनों कालों के प्रारम्भ में मनुष्य क्रम से तीन कोश(6 मील) दो कोश (4 मी.), एक कोष(2 मी.) धनुष ऊँचे रहते थे तथा स्त्री-पुरुषों की उत्पत्ति युगल रूप में-साथ ही साथ होती थी। उस समय उनकी आयु देवकुरु, उत्तरकुरु, हरिवर्ष तथा हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों के समान क्रम से तीन पल्य, दो पल्य, और एक पल्य के तुल्य होती थी।

तीनों काल के भारतीय आर्यों की स्थिति-

प्रोद्यादादित्यवर्णाभाः पूर्णचन्द्रसमप्रभाः ।
प्रियङ्गश्यामवर्णश्च तेषु ऋत्रिपुरुषास्त्रिषु ।(67)

उन तीनों कालों में स्त्री-पुरुष क्रम से उदित होते हुए सूर्य के समान, पूर्णचन्द्र के समान और प्रियंगु पुष्प के समान आभावाले होते थे।

पृष्ठकाण्डकसंख्यानं षट्पञ्चाशंशतद्वयम् ।
अष्टार्विंशं शतं तेषां चतुःषष्ठिर्यथाक्रमम् ।(68)

उनकी पीठ की हड्डियों की संख्या पहले काल में दो सौ छप्पन, दूसरे काल में एक सौ अद्वाईस और तीसरे काल में चौसठ थी।

दिव्यं बदरतन्मात्रमक्षमात्रं च भोजनं।
तथाऽमलकमात्रं च चतुस्त्रिद्विदिनैस्त्रिषु।(69)।

उनका पहले काल में चार दिन के अन्तर से बेर के बराबर, दूसरे काल में तीन दिन के अन्तर से बहेड़ा के बराबर और तीसरे काल में दो दिन के अन्तर से आँवले के बराबर दिव्य-कल्पवृक्षोत्पन्न आहार होता था।

तीनों कालों में भारत की भौगोलिक परिस्थिति-

तत्त्विकालनियोगेन धरित्रीयं नियन्त्रिता ।
त्रिभेदानां तदादत्ते नित्यभोगभुवां स्थितिम् ।(70)।

उन तीन कालों के नियोग से नियंत्रित यह भारत वर्ष की भूमि उस समय क्रमशः तीन प्रकार की स्थायी भोग-भूमियों की रीति को ग्रहण करती थी अर्थात् उस समय यहाँ की व्यवस्था शाश्वति उत्तम, मध्यम, और जघन्य भोग-भूमियों के समान थी।

रत्नप्रभा यथाभाति पृथिवीयमवस्थितैः ।
एषा तथा स्फुरद्रत्नपटलैरुपरिस्थितैः ॥(71)॥

जिस प्रकार रत्नप्रभा पृथिवी, स्थायिलगे हुए रत्नों के पटलों से सुशोभित है उसी प्रकार भरत क्षेत्र की यह भूमि भी उस समय ऊपर स्थित दैदीप्यमान रत्नों के पटलों से सुशोभित होती है।

इन्द्रनीलादिभिर्नीलैः कृष्णौ जर्त्य अनादिभिः ।
 पद्मरागादिकैः रक्तैः पीतै हैमादिभिः परैः ॥(72)॥
 वेतै मुक्तादिभिर्भूमिर्मयूखाक्रान्तदिङ्मुखैः ।
 पंचवर्णशिचिता रत्नैः सर्वगभूरिव शोभते ॥(73)॥

अपनी किरणों से दिशाओं को व्याप्त करने वाले इन्द्रनील आदि नीलमणि, जात्यंजन आदि कृष्णमणि, पद्मराग आदि लालमणि, हेम आदि पीलमणि और मुका आदि सफेद मणि इस प्रकार पाँच वर्ण के मणियों से व्याप्त हुई यह

भूमि उस समय स्वर्गभूमि के समान सुशोभित हो रही थी।

चन्द्रकान्तशिलाऽस्योर्वी विद्वमाधरपत्नवा ।
ललनेव तदाऽस्यभाति रत्नकाञ्चनकञ्चुका ।(74)

चन्द्रकान्तमणि जिसका मुख था, मूर्गाँ जिसके ओठ थे तथा रत्न और स्वर्ण जिसकी चोली थे ऐसी यह भूमि उस समय किसी स्त्री के समान सुशोभित होती थी।

चन्द्रकान्तांशवः शीताः सूर्यकान्ताशवोऽन्यथा ।
विश्लेष्यन्यत्र नाश्लेष्टः शीतोष्णव्यथिता इव ।(75)।

चन्द्रकान्त मणि की किरणें शीतल होती हैं और सूर्यकान्त मणि की उष्ण। परन्तु यहाँ दोनों ही एक दूसरे से मिलकर अलग-अलग नहीं होती थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो चन्द्रकान्त की किरणें ठण्ड से पीड़ित थी इसलिए सूर्यकान्त की उष्ण किरणों को नहीं छोड़ना चाहती थी और सूर्यकान्त की किरणें गर्मी से पीड़ित हैं इसलिए चन्द्रकान्त की शीतल किरणों को नहीं छोड़ना चाहती थी।

परस्परकराश्लेषरागमूर्च्छितमूर्त्तिभिः ।
मणिजातिविशेषभूम्भाति प्रेमवशैरिव ।(76)।

जिस प्रकार प्रेम के वशीभूत हुए मनुष्य परस्पर कराश्लेष अर्थात् हाथों का आलिंगन करते हैं और राग अर्थात् प्रेम से उनके शरीर मूच्छित रहते हैं उसी प्रकार यहां के नाना प्रकार के मणि भी परस्पर कराश्लेष अर्थात् किरणों का आलिंगन करते हैं और राग अर्थात् रंग से उनकी आकृति मूच्छित-वृद्धिंगत होती है। इस प्रकार जो प्रेम के वशीभूत के समान जान पड़ते थे ऐसे मणियों से यह भूमि अत्यधिक सुशोभित हो रही थी।

पंचवर्णसुखस्पर्शसुगन्धरसशब्दकैः ।
संच्छन्ना राजते क्षोणी तृणैश्च चतुर्युग्लै ।(77)।

जिनका रंग पाँच प्रकार का था, स्पर्श सुखकारी था तथा गन्ध, रस और शब्द जिनके उत्तम थे ऐसे चार अंगुल प्रमाण तृणों से ढकी हुई यहाँ की भूमि सुशोभित हो रही थी।

पूर्णदधिमधुक्षीरघृतेक्षुरससञ्जलैः ।
रत्नरोधेभिरुर्व्याङ्भात् दिव्यवापीसरोवरैः ॥(78)॥

जो दही, मधु, दूध, घी और ईख के समान स्वाद वाले उत्तम जल से भरे हुए थे तथा जिनके तट रत्ननिर्मित थे ऐसी सुन्दर-सुन्दर बावडियों और सरोवरों से वह भूमि अत्यधिक सुशोभित थी।

नानावर्णमणिच्छन्नैः सौवर्णेः प्राणिसौख्यदैः ।
रम्यैः क्षोणी धरैःक्षोणी भ्राजते नितरां सदा ॥(79)॥

रंग-बिरंगे मणियों से आच्छादित एवं प्राणियों को सुख देने वाले सुर्वर्णमय सुन्दर पर्वतों से यह भूमि सदा अत्यधिक सुशोभित रहती थी।

ज्योतिर्गृहप्रदीपाङ्ग्रस्तुर्यमोजनभाजनैः ।
वरत्रमाल्याङ्गभूषाङ्गर्मद्याङ्गश्च द्रुमैरभात् ॥(80)॥

(1) ज्योतिरं, (2) गृहांग, (3) प्रदीपांग, (4) तूर्यांग, (5) भोजनांग, (6) भाजनांग, (7) वस्त्रांग, (8) माल्यांग, (9) भूषणांग और (10) मद्यांग जाति के कल्पवृक्षों से वह भूमि सदा सुशोभित रहती थी।

आर्यों की शारीरिक अवस्थायें-

तदा स्त्रीपुसयुग्मानां गर्भान्तिरुठितात्मनाम् ।
दिनानि सप्त गच्छन्ति निजांगुष्ठावलेहनैः ॥(92)॥
रंगतामपि सप्तैव सप्तास्थिरपराक्रमैः ।
स्थिरैश्च सप्त तैः सप्त कलासु च गुणेषु च ॥(93)॥
कालेन तावता तेषां प्राप्त यौवनसंपदाम् ।
सम्यक्त्वग्रहणेऽपि स्याद् योग्यता सप्तभिर्दिनैः ॥(94)॥

उस समय गर्भ से उत्पन्न हुए स्त्री-पुरुषों (युगलियों) के सात दिन तो अपना अँगूठा चूसते-चूसते व्यतीत हो जाते थे, तदनन्तर सात दिन रेंगते, सात दिन लड्खड़ाती हुई गति से, सात दिन स्थिर गति से, सात दिन कला तथा अनेक गुणों के अभ्यास से और सात दिन यौवनरूप सम्पदा के प्राप्त करने में व्यतीत होते थे। उसके सातवें सप्ताह में उन्हें सम्यग्दर्शन ग्रहण करने की योग्यता आती थी।

स्त्रीपुंसलक्षणैः पूर्णा विशुद्धेन्द्रियबुध्दयः ।
कलागुणाविदग्धास्ता रमन्ते नीरुजाः प्रजाः ॥(95)॥

स्त्री-पुरुषों के उत्तमोत्तम लक्षणों से युक्त, विशुद्ध इन्द्रिय और बुद्धि के धारक कला और गुणों में चतुर एवं रोगों से रहित उस समय के लोग आनन्द से क्रीड़ा करते थे।

नरादेवकुमारभा नार्यो देवाङ्गनोपमाः ।
वर्णगन्धरसस्पर्शशब्दवेषमनोरमाः ॥(96)॥

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और वेष के द्वारा मन को आनन्दित करने वाले वहाँ के लोग देवकुमारों के समान तथा वहाँ की स्त्रियाँ देवांगनाओं के समान जान पड़ती थीं।

श्रोतं गीतरवे रूपे चक्षुघ्राणं सुसौरभे ।
जिह्वा मुखरसास्वादे सुरस्पर्शं स्पर्शनं तनोः ॥(97)॥
अन्योन्यस्य तदाशक्तं दम्पतिनाम् निरन्तरम् ।
स्तोकमणि न संतृप्तं मनोऽधिष्ठितमिन्द्रियम् ॥(98)॥

उस समय स्त्री-पुरुषों के कान परस्पर के संगीत शब्दों में, चक्षु रूप के देखने में, ध्यान सुगन्धि के ग्रहण करने में, जिह्वा मुख के रसास्वाद में और स्पर्शन शरीर के उत्तम स्पर्श के ग्रहण करने में निरन्तर आसक्त रहते थे। उनके मन तथा इन्द्रियाँ रंचमात्र भी संतुष्ट नहीं होती थी।

आर्य एवं आर्य संज्ञा-

आर्यमाह नरो नारीमार्य नारी नरं निजम्।
भोगभूमिनरस्त्रीणां नाम साधारणं हि तत्।(102)

वह पुरुष स्त्री को आर्य और स्त्री पुरुष को आर्य कहती थी। यथार्थ में भोगभूमिज स्त्री पुरुषों का वह साधारण नाम है।

सामाजिक व्यवस्था से रहित आर्य-

उत्तमा जातिरेकैव चातुर्वर्ण्य न षट्क्रियाः।
न स्वस्वामिकृतः पुंसां संबन्धो न च लिङ्गिनः।(103)

उस समय सबकी एक ही उत्तम जाति होती है, वहाँ न ब्राह्मणादि चार वर्ण होते हैं व असि, मषि आदि छ कर्म होते हैं, न सेवक और स्वामी का सम्बन्ध होता है और न वेषधारी ही होते हैं।

मध्यस्था एव सर्वत्र न मित्राणि न शत्रवः।
प्रकृत्याल्पकषामित्वाद्यान्ति चायुःक्षेय दिवम्।(104)

वहाँ के मनुष्य सब विषयों में मध्यस्थ रहते हैं, वहाँ न मित्र होते हैं ओर न शत्रु एवं स्वभाव से ही अल्पकषायी होने के कारण आयु समाप्त होने पर सब नियम से देव पर्याय को ही प्राप्त होते हैं।

प्राचीन आर्य कालीन पशु-

मिथुनानि यथा नृणां रमन्ते प्रेमनिर्भरम्।
तथा कल्पद्रुमाहारैस्तिरश्चां तृपचेतसाम्।(99)

जिस प्रकार मनुष्यों के जोड़े कल्पवृक्ष सम्बन्धी आहारों से सन्तुष्ट हो प्रेम पूर्वक क्रीड़ा करते हैं उसी प्रकार सन्तुष्ट चित्त के धारक तिर्यचों भी प्रेम पूर्वक क्रीड़ा करते थे।

क्वचित्सैहं क्वचेभं क्वचिदौष च शौकरम्।
क्वचित् क्रीडन्ति वैयाघं मिथुनं मदमन्थरम्।(100)

उस समय कहीं सिंहों के युगल, कहीं हाथियों के युगल, कहीं ऊँटों के युगल, कहीं शूकरों के युगल, और कहीं मद से धीमी चाल चलने वाले व्याघ्रों के युगल क्रीड़ा करते थे।

गवाक्षमहिषादीनां मिथुनानि मिथस्तदा।
मर्त्यायुः प्रमितायूषि रंस्यन्ते निजेच्छ्या।(101)

कहीं मनुष्यों के बराबर आयु को धारण करने वाले गाय, घोड़े और भैंसों के जोड़े अपनी इच्छानुसार अत्यधिक क्रीड़ा करते थे।

भोग-भूमिज आर्यों की मृत्यु के कारण-

सुखमृत्युः क्षुतेः पुंसो जृम्भारम्भणे च स्त्रियाः।
जन्मबद्धस्य प्रेमस्य युगलस्य सहैव सः।(105)

जन्म से ही जिसका प्रेमभाव परस्पर में निबद्ध रहता था ऐसे पुरुष की मृत्यु छींक आने से तथा स्त्री की मृत्यु जिमहाई लेने मात्र से सुखपूर्वक हो जाती थी।

भोग-भूमिज आर्य बनने का कारण-

कर्मभूमिगता मर्त्याः प्रकृत्याल्पकषायिणः।
अत्र ते पात्रदानात् स्युर्भोगभूमिषु मानुषाः।(107)

कर्मभूमि के जो मनुष्य स्वभाव से ही मन्दकषाय होते हैं वे पात्रदान के प्रभाव से भोग-भूमि में मनुष्य होते हैं।

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रः तपःशुद्धिपवित्रताः।
मध्यस्थाः शत्रुमित्रेषु सन्तो हि पात्रमुत्तमम्।(108)

जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यक् तप की शुद्धि

से पवित्र हैं तथा शत्रु और मित्रों पर मध्यस्थ भाव रखते हैं ऐसे साधु उत्तम पात्र कहलाते हैं।

मध्यमं तु भवेत्पात्रं संयतासंयता जनाः।
जघन्यमुदितं पात्रं सम्यग्दृष्टिरसंयतः॥(109)॥

संयमासंयम को धारण करने वाले श्रावक मध्यम पात्र हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र कहे जाते हैं।

कुपात्रदानतो भूत्वा तिर्यञ्चो भोगभूमिषु।
संभुजज्जतेऽन्तरं द्वीपं कुमानुषकुलेषु वा॥(115)॥

कुपात्र दान के प्रभाव से मनुष्य, भोगभूमियों में तिर्यञ्च होते हैं अथवा कुमानुष कुलों में उत्पन्न होकर अनन्तर द्वीपों का उपभोग करते हैं।

समाज सुधारकों (कुलकर) की उत्पत्ति-

अथ कालद्वयेऽतीते क्रमेण सुखकारणे।
पल्याष्टभागशेषे च तृतीये समवस्थिते॥(122)॥
क्रमेण क्षीयमाणेषु कल्पवृक्षेषु भूरिषु।
क्षेते कुलकरोत्पत्ति शृणु श्रेणिक सांप्रतम् ॥(123)॥

अर्थानन्तर सुख के कारण भूत जब प्रारम्भ के दो काल बीत गये और पल्य के आठवें भाग बराबर तीसरा काल बाकी रह गया तथा कल्पवृक्ष जो पहले अधिक मात्रा में थे क्रम-क्रम से कम होने लगे तब इस क्षेत्र में कुलकरों की उत्पत्ति हुई।

प्रतिश्रुति कुलकर (मनु) -

गंगा और सिन्धु महानदियों के बीच दक्षिण भरत क्षेत्र में क्रम से चौदह कुलकर उत्पन्न हुए थे। उन कुलकरों में पहला कुलकर प्रतिश्रुति था। वह महाप्रभाव से सम्पन्न था तथा अपने पूर्वभव के स्मरण से सहित था। उसके समय प्रजा के लोग पौर्णमासी के दिन आकाश में एक साथ, आकाशरूपी

हाथी के दो घंटाओं के समान आभावाले चन्द्र और सूर्य-मण्डल को देखकर अपने ऊपर आने वाले किसी महान् उत्पात से शंकित हो आकर्षिक भय से उद्धिग्र हो उठे तथा सब एकत्र हो प्रतिश्रुति कुलकर की शरण में जाकर उससे पूछने लगे कि हे नररत्न! आकाश के दोनों छोरों पर, मण्डलाकार तथा असमय में हम लोगों को भय उत्पन्न करने वाले ये दो अपूर्व पदार्थ दिख रहे हैं? अहो? हम लोगों के लिए यह अकरमात् ही दुःसाह भय प्राप्त हुआ है। क्या ये प्रजा के लिए दुर्स्तर महाप्रलय ही आ पहुँचा है? इस प्रकार पूछे जाने पर स्वामी प्रतिश्रुति ने कहा कि हे प्रजाजनों! भय छोड़ो, हमारे लिए कुछ भी भय प्राप्त नहीं हुआ है। आप लोग रवस्थ रहिए। ये जो दिखाई दे रहे हैं। वे सूर्य, चन्द्रादि हैं। मैं उनका कथन करता हूँ।

दण्डव्यवस्था का प्रारम्भ-

काल स्वभावभेदेन स्वभावो भिन्नते ततः।
द्रव्यक्षेत्र प्रजावृत्तवैपरीत्यं प्रजायते॥(140)॥

काल के स्वभाव में भेद होने से पदार्थों का स्वभाव भिन्न रूप हो जाता है और उसी से द्रव्य-क्षेत्र तथा प्रजा के व्यवहार में विपरीतता आ जाती है।

अव्यवस्थानिवृत्यर्थमतः परमतः प्रजाः।
हा मा धिक्कारतो भूताः तिस्त्रो वै दण्डनीतयः॥(141)॥

इसलिए हे प्रजाजनो! अब इसके आगे अव्यवस्था दूर करने के लिए हा, मा और धिक् ये तीन दण्ड की धाराएँ स्थापित की जाती हैं।

मर्यादोल्लङ्घनेच्छस्य कथंचित्कालदोषतः।
दोषानुरुपमायोज्याः स्वजनस्य परस्य वा॥(142)॥

यदि कोई स्वजन या परजन कालदोष से मर्यादा के लाँघने की इच्छा करता है तो उसके साथ दोषी के अनुरूप उक्त तीन धाराओं का प्रयोग करना

चाहिए।

नियन्त्रितो जनः सर्वसूभिर्दण्ड नीतिभिः।
दृष्टिदोषभयत्रस्तो दोषेभ्यो विनिवर्त्तते।(143)।

तीन धाराओं से नियन्त्रण को प्राप्त हुए समस्त मनुष्य इस भय से ब्रह्म रहते हैं कि हमारा कोई दोष दृष्टि में न आ जाये और इसी भय से वे दोषों से दूर रहते हैं।

रक्षणार्थमनर्थेभ्यः प्रजानामर्थसिद्धये।
प्रमाणमिह कर्त्तव्याः प्रणीता दण्डनीतयः।(144)।

अनर्थों से बचने के लिए तथा प्रजा की भलाई के लिए आप लोगों को ये निश्चित की हुई दण्ड की धाराएँ रवीकृत करनी चाहिए।

प्रसादेषु यथास्थानं मिथुनान्यकुतोभयम्।
अनुरमृत्यावतिष्ठन्तवरमदीयमनुशासनम्।(145)।

हमारी आज्ञा का स्मरण कर अब सब युगल निर्भय हो यथास्थान महलों में निवास करें।

इस प्रकार कहने पर सब लोगों ने प्रतिश्रुति कुलंकर के वचन शीघ्र ही रवीकृत किये और सब बड़ी प्रसन्नता से यथास्थान महलों में रहने लगे जिस प्रकार गुरु के वचन रवीकृत किये जाते हैं। उसी प्रकार प्रजा ने चूँकि उसके वचन स्वीकृत किये थे इसलिए वह पृथ्वी पर सर्वप्रथग प्रतिश्रुति इस नाम से प्रसिद्ध हुआ था। यह प्रतिश्रुति कुलकर, पल्य के दशवें भाग तक जीवित रह कर तथा सन्मति नाम के पुत्र को उत्पन्न कर आयु के अन्त में र्वर्ग चला गया।

(2) सन्मति कुलकर-

सन्मति कुलकर पिता की मर्यादा की रक्षा करता था, प्रजा को अतिशय मान्य था और अनेक कलाओं का घर था इसलिए सन्मति इस नाम से

प्रसिद्ध हुआ था। वह सन्मति पल्य के सौंवे भाग तक जीवित रहकर तथा क्षेमंकर नामक पुत्र को उत्पन्न कर स्वर्ग गया।

(3) क्षेमंकर कुलकर-

प्रजानां च तदा जाताः स्तिंहव्याघविभीषिकाः।
सोऽपि क्षेमं ततः कृत्वा प्राप्तः क्षेमंकर श्रुतिम्।(151)।

उसके समय में प्रजा को सिंह तथा व्याघ्रों से भय उत्पन्न होने लगा था, उससे उनका कल्याण कर वह क्षेमंकर इस नाम को प्राप्त हुआ था।

यह प्रजा का स्वामी पल्य के हजारवें भाग जीवित रह कर तथा क्षेमंधर नामक पुत्र को उत्पन्न कर स्वर्ग गया।

(4 से 7) क्षेमन्धर, सीमंकर, सीमन्धर, विपुलवाहन-

वह क्षेमन्धर पिता की आर्य मर्यादा की रक्षा करने वाला था और पल्य के दश हजारवें भाग जीवित रह कर तथा सीमंकर नामक पुत्र को उत्पन्न कर स्वर्ग चला गया। इसके समय में कल्पवृक्षों की संख्या कम हो गयी थी इसलिए उनकी लोभी प्रजा में परस्पर कलह होने लगी थी। इसने उनकी सीमा निर्धारित कर दी थी इसलिए यह सीमंकर इस सार्थक नाम को धारण करता था। यह पल्य के लाखवें भाग जीवित रह कर स्वर्गगामी हुआ और इसके सीमन्धर इस सार्थक नाम को धारण करने वाला पुत्र हुआ। वह पल्य के दश लाखवें भाग जीवित रह कर स्वर्ग गया। इसके विपुलवाहन नामक पुत्र हुआ, यह बड़े-बड़े हाथियों को वाहन बना कर उन पर क्रीड़ा करता था इसलिए विपुलवाहन इस नाम का धारी हुआ था। वह पल्य के करोड़वें भाग जीवित रह कर स्वर्ग गया और उसके चक्षुष्मान् नाम का पुत्र हुआ।

पुत्रचक्षुर्मुखालोकाज्ज्वर्मत्वा भियाऽनया।
आयुष्मत्प्रजया गीतश्चक्षुष्मानित्यसौ प्रभुः।(158)।

पहले माता-पिता पुत्र का मुख तथा चक्षु देखे बिना ही मर जाते थे पर इसके समय पुत्र का मुख व चक्षु देखकर मरने लगे इससे प्रजा को कुछ भय उत्पन्न हुआ परन्तु इसने उन सबके भय को दूर किया इसलिए कुछ अधिक काल तक जीवित रहने वाली प्रजा ने इसे 'चक्षुष्मान्' इस नाम से सम्बोधित किया। स्तुति को प्राप्त हुआ वह चक्षुष्मान् पल्य के दश करोड़वें भाग तक भोग भोगकर आयु समाप्त होने पर स्वर्ग गया।

(9) यशस्वी-

चक्षुष्मान् का पुत्र यशस्वी हुआ। इसने अपने समय में प्रजा को पुत्र का नाम रखना सिखाया इसलिए प्रजा ने इसे विस्तृत यश से युक्त किया अर्थात् इसका यशस्वी यह नाम रखा। वह पल्य के सौ करोड़वें भाग जीवित रहकर तथा अभिचन्द्र नामक उत्तम पुत्र को उत्पन्न कर स्वर्ग गया।

(10) अभिचन्द्र-

उसके समय में प्रजा अपनी संतान को ऊपर उठा चन्द्रमा के सामने क्रीड़ा कराती थी इसलिए वह अभिचन्द्र इस नाम को प्राप्त हुआ। वह गुणवान् कुलकर पल्य के हजार करोड़वें भाग जीवित रहकर तथा चन्द्राभ नामक पुत्र को उत्पन्न कर स्वर्ग गया।

(11) चन्द्राभ, मरुदेव-

चन्द्राभ ने पल्य के दश हजार करोड़वें भाग तक जीवित रह कर मरुदेव को उत्पन्न किया। वह अपने मरुदेव पुत्र को एक मास तक खिलाता रहा अनन्तर स्वर्ग को प्राप्त हुआ।

(12) सन्तान के मुख से प्रथम शब्द श्रवण-

मरुदेवर्य काले च मातः पितरिति ध्वनिम्।
शुश्राव शिशुयुग्मर्य प्रथमं मिथुनं कलम्।(165)

मरुदेव के समय स्त्री-पुरुष अपनी सन्तान के मुख से 'हे माँ' 'हे पिता'

इस प्रकार के मनोहर शब्द सुनने लगे थे।

(13) प्रसेनजित-

(प्रथम अकेले सन्तान का जन्म)-

एकमेवासृजतपुत्रं प्रसेनजितमत्र सः।
युग्मसृष्टेरिहैवोर्ध्वमितो व्यपनिनीष्या।(166)

पहले यहाँ युगल संतान उत्पन्न होती थी परन्तु इसके आगे युगल सन्तान की उत्पत्ति को दूर करने की इच्छा से ही मानो मरुदेव ने प्रसेनजित नामक अकेले पुत्र को उत्पन्न किया था।

प्रथम बार पसीना आना-

प्रसेनजितमायोज्य प्रस्वेदलवभूषितम्। (1/2 167)

इसके पूर्व भोगभूमिज मनुष्यों के शरीर में पसीना नहीं आता था परन्तु प्रसेनजित का शरीर जब कभी पसीना के कणों से सुशोभित हो उठता था।

विवाह पद्धति का प्रारंभ-

विवाह विधिना वीरः प्रधानकुलकन्या। (167 1/2)

वीर मरुदेव ने अपने पुत्र प्रसेनजित को विवाह विधि के द्वारा किसी प्रधान कुल की कन्या के साथ मिलाया था।

अन्त में मरुदेव पल्य के लाख करोड़वें भाग तक जीवित रहकर स्वर्ग गया।

(14) नाभिराय-

तदनन्तर प्रसेनजित ने एक करोड़ पूर्व की आयु वाले, जन्मकाल में बालकों की नाल काटने की व्यवस्था करने वाले थे, तथा स्वर्गगामी नाभिराज पुत्र को उत्पन्न किया। पल्य के दश लाख करोड़वें भाग तक जीवित रह

कर आयु समाप्त होने पर प्रसेनजित स्वर्ग गया।

कुलकर की विशेषता-

आद्यसंस्थान संघातगम्भीरोदारमूर्त्यः।
स्वपूर्वभवविज्ञाना मनवस्ते चतुर्दश ।(173)।

ये चौदह कुलकर समचतुरस्त्र संस्थान और वज्रवृषभ नाराचसहनंन से युक्त होकर गम्भीर तथा उदार शरीर के धारक थे, इनको अपने पूर्वभव का स्मरण था तथा इनकी मनुसंज्ञा थी।

कुलकरों के वर्ण-

चक्षुष्मांश्च यशस्वी च तयैवासो प्रसेनजित्।
त्रयः कुलकराः प्रोक्ताः प्रियद्वृश्यामरोचिषः ।(174)।
चन्द्राभचन्द्रगौराभरतथैव प्रथितः प्रभुः।
कथिता दश शेषास्ते संतप्तकनकप्रभा: ।(175)।

इन कुलकरों में चक्षुष्मान, यशस्वी और प्रसेनजित ये तीन कुलकर प्रियंगु पुष्प के समान श्याम कान्ति के धारक थे, चन्द्राभ नाम के समान गौरवर्ण था, और बाकी दश तपाये हुये स्वर्ण के समान प्रभा से युक्त थे।

दण्डनीति-

ये चौदहों राजा मर्यादा की रक्षा के उपाय भूत 'हा', 'मा' और 'धिक' इन तीन प्रकार की दण्डनीतियों को अपनाते थे, प्रजा के लिए पिता के तुल्य थे और अत्यधिक प्रभावशाली थे।

जिनसेन स्वामी ने भी आदि पुराण में भोग प्रधान युग की दण्डनीति का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

तत्रादैः पंचभिनृणां कुलकृद्धिः कृतागसाम्।
हाकारलक्षणो दण्डः समवस्थापितस्तदा ।(214)।

पृ० 65 प. III

हामाकारश्च दण्डोऽन्यैः पञ्चभिः संप्रवर्तितः।
पञ्चाभिस्तु ततः शषैर्हामाधिकारलक्षणः ।(215)।

उन कुलकरों में से आदि के पाँच कुलकरों ने अपराधी मनुष्यों के लिए 'हा' इस दण्ड की व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया। उनके आगे के पाँच कुलकरों ने 'हा' और 'मा' इन दो प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया, अब आगे ऐसा नहीं करना। शेष कुलकरों ने 'हा' 'मा' और 'धिक' इन तीन प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है, अब ऐसा नहीं करना और तुम्हें धिकार है जो रोकने पर भी अपराध करते हो।

शरीरदण्डनं चैव बधबन्धादि लक्षणम्।
नृणां प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम् ।(216)।

भरत चक्रवर्ती के समय लोग अधिक दोष या अपराध करने लगे थे इसीलिए उन्होंने वध, बन्धन आदि शारीरिक दण्ड की भी रीति चलायी थी।

प्राक् वैदिक आर्यों के जीविकोपार्जन साधन : कल्पवृक्ष

प्राक् वैदिक काल में जो आर्य लोग रहते थे वे प्राकृतिक रूप से उत्पन्न हुए विशिष्ट वृक्षों से जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक समस्त सामग्रियाँ सहज रूप से प्राप्त कर लेते थे। उन वृक्षों को कल्पवृक्ष कहते हैं। ऐसे कल्पवृक्ष दस प्रकार के अनेक थे। इसका वर्णन प्रायः 2000 वर्ष प्राचीन तिलोय पण्णत्ति ग्रंथ में निम्न प्रकार से किया गया है-

10 प्रकार के कल्पवृक्ष

पाणिंगतूरियंगां भूसणवत्थंगं भोयणंगा या।
आलय वीविय भायण माला तेजंग आदि कप्पतरु ।(342)।

भोग-भूमि में पानंग, तुर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और तेजांग आदि कल्पवृक्ष होते हैं।

पानांग-

पाणं मधुर सुसादं छरसेहि जुं पासत्थमइसीदं ।
बत्तीस भेद जुतं पाणंगा देंतिरु टिठपुदिठयरं ।(343)।

इनमें से पानांग जाति के कल्पवृक्ष जो कि भोगभूमि में मधुर सुस्वादु, छहों रसों से युक्त, प्रशस्त, अतिशीतल और तुष्टि एवं पुष्टि को करने वाले ऐसे बत्तीस प्रकार के पेय द्रव्य को दिया करते हैं।

तुर्यांग

तूरंगा वरवीणा पटुपटहम् इंगझलरी संखा ।
दुंदुभिभांभेरीकाहलपहुदाइ देंति तूरग्गा ।(344)।

तुर्यांग जाति के कल्पवृक्ष उत्तम वीणा, पटुपटह, मृदंग, झालर शंख, दुवंभि, भम्भा, भेरी और काहल इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार के वादित्रों को देते हैं।

भूषणांग-

तरओवि भूसणंगा कंकणकडिसुत्तहरा केयूरा ।
मंजीरकडय कुडलकिरीडमउडादियं देंति ।(345)।

भूषणांग जाति के कल्पवृक्ष कंकण, कटिसूत्र, हार, केयूर, मंजीर, कटक, कुण्डल, किरीट और मुकुट इत्यादि आभूषणों को प्रदान करते हैं।

वस्त्रांग-

वत्थंगाणित्तं पडंचीण सुअर खउमपहु दित्थाणि ।
मणणयणाणंदकरं णाणावत्थादि ते देंति ।(346)।

ये वस्त्रांग जाति के कल्पवृक्ष नित्य चीन पट एवं उत्तम क्षौम (रेशमी) वस्त्र तथा मन और नयनों को आनन्दित करने वाले नाना प्रकार के वस्त्रादि देते हैं।

भोजनांग-

सोलसविहमाहारं सोलसभेयणि विजणाणि वि ।
चोद्दसविह सूपाइं खजाणि विगुणचउवण्णं ।(347)।

सायाणं च पयारे तेसद्धी संजुदाणि तिसयाणि ।
रसभेदा तेसद्धी देंति फुण्डं भोयणंदुमा ।(348)।

भोजनांग जाति के कल्पवृक्ष सोलह प्रकार का आहार सोलह प्रकार के व्यंजन, चौदह प्रकार के सूप (दाल आदि) चउवन के दुगुणे अर्थात् एक सौ आठ प्रकार के खाद्य पदार्थ, खाद्य पदार्थों के तीन सौ तिरेसठ प्रकार और तिरेसठ प्रकार के रस भेदों को पृथक-पृथक दिया करते हैं।

आलयांग-

सथिथनंद्यावत्तप्पमुहा जे के वि दिव्वपासादा ।
सोलसभेदा रम्मा देंति हुते आलयंग दुमा ।(349)।

आलयांग जाति के कल्पवृक्ष स्वास्तिक और नन्द्यावर्त इत्यादिक जो सौलह प्रकार के रमणीय दिव्य भवन होते हैं, उनको दिया करते हैं।

दीपांग-

दीवंगदुमा साहापवाल फल कुसुमनंकुरादीहिं ।
दीवाइव पञ्चलिदा पासादे देंति उञ्जोवं ।(350)।

दीपांग जाति के कल्पवृक्ष प्रासादों में शाखा, प्रवाल (नवजातपत्र, फल, फूल और अंकुरादि) के द्वारा जलते हुए दीपकों के समान प्रकाश देते हैं।

भाजनांग-

भायणअंगा कंचणबहुरयण विणिम्मिमयाई धवलाई ।
भिंगारकलसगरिचामर पीठादियं देंति ।(351)।

भाजनांग जाति के कल्पवृक्ष सुवर्ण एवं बहुत से रत्नों से निर्मित धवल, झारी, कलश, गागर चामर और आसनादिक प्रदान करते हैं।

मालांग-

वली तरु गुच्छलदुष्मवाण सोलससहस्र स भेदाणं ।
मालांग दुमा देति हु कुसुमाणं विविह मालओ ॥(352)।

मालांग जाति के कल्पवृक्ष वली तरु गुच्छ और लताओं से उत्पन्न हुए सोलह हजार भेदरूप पुष्पों की विविध मालाओं को देते हैं।

तेजांग-

तेजंगा मज्जंदिण दिण यर कोडिण किरण संकामा ।
णक्खत्त चन्द सूरप्पहुदीणं कंति संहरणा ॥(353)।

तेजांग जाति के कल्पवृक्ष मध्यदिन के करोड़ों सूर्यों की किरणों के समान होते हुए भी नक्षत्र, चन्द्र और सूर्यादिक की कान्ति का संहरण करते हैं।

ते सव्वे कप्पदुमा ण वणप्पदी णो वेंतरा सव्वे ।
णवरि पुढविसरुवा पुण्ण फलं देति जीवाण ॥(354)।

ये सब कल्पवृक्ष न तो वनस्पति ही हैं और न कोई व्यन्तर देव हैं। किन्तु विशेषता यह है कि ये सब पृथ्वी रूप होते हुए जीवों को उनके पुण्य कर्म का फल देते हैं।

मद्यांग- कल्पवृक्ष से प्राप्त मद्य मादक (नसेली) नहीं है।

मद्यांङ्गं मधुमैरेम सीधवरिष्टास वादिकान् ।
रसभेदांस्ततामोदान वितरन्त्यमृतोपमाम् ॥(936)।

इसमें मद्यांग जाति के वृक्ष फैलती हुई सुगन्धि से युक्त तथा अमृत के समान मीठे मधु - मैरेय सीधु, अरिष्ट और आसव आदि अनेक प्रकार के रस देते हैं।

कामोद्वीपन साधम्यात् मद्यमित्युपचर्यते ।
तारवो रसभेदोऽयं यः सैव्यो भोगभूमिजैः ॥(9/38)।

म०प०प०र्व

कामोद्वीपन की समानता होने से शीघ्र ही इन मधु आदि को उपचार से मद्य कहते हैं। वास्तव में ये वृक्षों के एक प्रकार के रस हैं जिन्हें भोग - भूमि में उत्पन्न होने वाले आर्य पुरुष सेवन करते हैं।

मदस्य करणं मद्यं पानशौण्डर्यदादतम् ।
तद्वर्जनीयमार्याणामन्तः करण मोहदम् ॥(939)।

मद्यपायी लोग जिस मद्य का पान करते हैं, वह नशा करने वाला है और अन्तःकरण को मोहित करने वाला है इसलिये आर्य पुरुषों के लिए त्याज्य है।

कल्पवृक्षों का स्वरूप

न	वनस्पतयोऽप्येते	नैव	दिव्यैरधीष्ठिताः ।
केवल		पृथिवीसारास्तन्मयत्वमुपागताः ॥	
अनादिनिधनाश्चैते		निसंगत्	फलदायिनः ।
नहि	भावस्वभावानामुपाम्बः		सुसङ्गतः ॥
नृणां	दानफलादेने	फलन्ति	विपुलं फलम् ।
यथान्य	पादपाः	काले	प्राणिनामुपकारकाः ॥

(म० पु० पर्व 9/46- 52)

ये सभी अनादि निधन हैं और स्वभाव से ही फल देने वाले हैं। इन वृक्षों का ऐसा स्वभाव ही है इसलिए ये वृक्ष वस्त्र तथा बरतन आदि कैसे देते होंगे। इस प्रकार कुतर्क कर इनके स्वभाव में दूषण लगाना उचित नहीं है।

पदार्थों के स्वभाव अनेक प्रकार के होते हैं इसलिए उनमें तर्क करने की आवश्कता नहीं है। जैसा कि कहा भी है - "स्वभावोऽतर्क गोचरः" अर्थात् स्वभाव तर्क का विषय नहीं है।

जिस प्रकार आजकल के अन्य वृक्ष अपने - 2 फलने का समय

आने पर अनेक प्रकार के फल देकर प्राणियों का उपकार करते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त कल्पवृक्ष भी मनुष्यों के दान के फल से अनेक प्रकार के फल फलते हुये वहाँ के प्राणियों का उपकार करते हैं।

वर्तमान में पशु जगत तथा मानव समाज जीवन यापन करने के लिये वृक्ष पर ही निर्भर हैं। भोजन के लिये मनुष्य आम, केला, नारियल, धान, गेहूँ, बाजरा आदि वनस्पति के ऊपर निर्भर हैं, अर्थात् उनसे खाद्य सामग्री मिलती हैं। वस्त्र के लिये मनुष्य कपास, नीलगिरी, केला, सन आदि वृक्ष के ऊपर निर्भर हैं। गुड़, शक्कर, आदि मधुर द्रव्य गन्ना, खजुर, ताड़ आदि वृक्षों से मिलता है। सुखवादु पानीय (पेय पदार्थ) गन्ना, खजुर, नारियल आदि वृक्षों से मिलता है। सुगन्धित, सुखवादु रुचिकर मसाले लौंग, इलायची, दालचीनी, काली मिर्ची, मिर्ची, तेज पत्ते आदि वनस्पति से प्राप्त होते हैं। ईंधन सामग्री, लकड़ी आदि पेड़ से ही प्राप्त होते हैं। उष्ण नशीली चाय, काफी आदि वनस्पति से ही प्राप्त होते हैं। दीपक प्रज्ञवलित करने योग्य वस्तु यथा तेल, रुई, बत्ती आदि वनस्पति से ही प्राप्त होते हैं। टायर, टेलिफोन, रेडियो, चप्पल, विभिन्न गृह उपकरण, क्रीड़ोपकरण आदि सामग्री एक प्रकार के वृक्ष के दूध से ही प्राप्त होती है। उस वृक्ष का नाम है 'रबर वृक्ष' जो कि दक्षिण भारत में स्थित है। अमेरिका में भी ऐसे वृक्ष हैं जिन्हें Milk tree (दूध का पेड़) ब्रेड ट्री (रोटी का पेड़) और light tree (प्रकाश का वृक्ष) आदि नाम से पुकारा जाता हैं। इन वृक्षों के फल दूध, रोटी और प्रकाश के काम आते हैं। पेरु देश में एक प्रकार का वृक्ष है जिससे पानी झरता है। ये वायुमण्डल की आर्द्रता को खींचकर संचय करता है। गर्भी के दिन में या उष्ण वातावरण में इन वृक्षों से स्वतः पानी झरता है। अभी भी अनेक क्लान्ट-खिन्न पथिक शीतल घनी छाया में बैठकर अपनी थकान दूर करते हैं। अनेक वृक्ष मनमोह कारी, सुरभियुक्त, रंग-बिरंगे, अत्यन्त कोमल सुन्दर पुष्प मनुष्यों को देते हैं। रोग निवारक, शक्ति वर्द्धक, बुद्धि वर्द्धक, रासायनिक औषधि वनस्पतियों से ही प्राप्त होती हैं। सुगन्धित तेल, इत्र, प्रसाधन-द्रव्य आदि वनस्पतियों से मनुष्यों को प्राप्त होते हैं। कुछ खाने के पात्र लकड़ियों

से अभी भी बनते हैं। माप करने के पात्र टेबल, कुर्सी, पलंग, अलमारी, खाट आदि वनस्पतियों से प्राप्त होते हैं। घर, दरवाजे, खिड़की, बल्ली, कृषि उपकरण आदि वनस्पतियों से बनते हैं। आत्मरक्षा के लिए लकड़ी, लाठी आदि सामग्री वनस्पति से मिलती हैं। नौका, जहाज, पुल, रथ, बैलगाड़ी, तांगा आदि यान, वाहन लकड़ियों से बनते हैं। ओढ़ने और बैठने योग्य चटाई आदि वनस्पतियों से प्राप्त होती है। कागज, लेखनोपकरण, पेन्सिल आदि वनस्पति से प्राप्त होते हैं। बांसुरी, वीणा, हारमोनियम आदि वाद्योपकरण वनस्पतियों से प्राप्त होते हैं। प्रायः सम्पूर्ण पशु जगत जीवनयापन करने के लिए बहुतायत से वनस्पति पर निर्भर रहते हैं। इस प्रकार वर्तमान में भी आप लोगों को अवगत हुआ कि मनुष्य एवम् पशु जगत वनस्पति के ऊपर विशेष कर के निर्भर हैं।

इस दृष्टि कोण से विचार करने पर स्पष्ट विदित हो जाएगा कि पहले कुछ विशिष्ट वृक्ष थे जो मनुष्यों एवम् पशुओं को इच्छित वस्तु देते थे। इस्लाम धर्म में ऐसे वृक्षों को दरख्त या तोबे कहा जाता है और क्रिश्चियन धर्म में स्वर्गीय वृक्ष की अभीदा दी गई है।

अध्याय 2

आर्य और म्लेच्छ

प्राङ्गनुषोत्तराद्यस्मान्मनुष्याः परतश्च न।
 आर्या म्लेच्छाश्च ते ज्ञेयास्ताद्कर्मबलोद्भवाः ॥
 (त. श्लो. वा. 5 पृष्ठ 369)

जिस कारण से मानुष्योत्तर पर्वत से पहिले पहिले ही ढाई द्वीप में मनुष्य है, किन्तु मानुष्योत्तर के परली ओर मनुष्य नहीं है। जिस प्रकार के कर्म की सामर्थ्य से उत्पन्न हुये वे मनुष्य आर्य और म्लेच्छ समझ लेने चाहिये।

उच्चैर्गोत्रोवयादेरार्या, नीचैर्गोत्रादेश्च म्लेच्छाः ।

तिस तिस प्रकार के पौद्धलिक कर्मों के अनुसार आर्य अथवा म्लेच्छ मनुष्य उपज जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, संतान क्रम से चले आ रहे उच्च आचरण से सम्पादक उच्चगोत्रका उदय हो जाने से अथवा क्षेत्र, जाति, कर्म आदि की व्यवस्था अनुसार या गुण सेव्यता, भोग-भूमि सम्बन्धी मनुष्य शरीर आदि कारणों से आर्य मनुष्य हो जाते हैं तथा नीच आचरण के सम्पादक नीच गोत्र का उदय, कुभोग भूमि या म्लेच्छ खण्डों में उत्पत्ति नीच क्रियायें, निर्लज्ज भाषण आदि निमित्तों से म्लेच्छ मनुष्य हो जाते हैं। भावार्थ- सर्वत्र अंतरंग बहिरंग कारणों से ही प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति होती है। यद्यपि धोबी, नाई, लुहार, कुम्हार, आदिक शिल्पकर्मा आर्यों के शूद्र होने के कारण नीच गोत्र का उदय माना गया है तथा म्लेच्छ खण्डों के मनुष्यों को भी संयम की प्राप्ति हो सकने के कारण उच्च गोत्र का उदय मानना

गाडेगा। क्योंकि “देसे तदियेकसाआ णीचं एव मणुरस्स सामण्णे” पाँचवे गुणस्थान में नीच गोत्र की उदयव्युच्छिति हो जाती है तथापि बहुभाग आर्य मनुष्यों की अपेक्षा उच्चगोत्र का उदय और बहुभाग म्लेच्छों की अपेक्षा नीच गोत्र का उदय मानना पड़ता है। राजवार्त्तिक में नाई, धोबी, कुम्हार को आर्यों में गिना है और लब्धिसार ग्रन्थ में सकलसंयम लब्धि को धारने वाले स्वामियों के भेद का निरूपण करते समय “तत्तो पडिवज्जग्याअज्ञामिलेच्छे मिलेच्छाज्ञेय । कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा” इस गाथा की टीका में यो लिखा है कि, “म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकल संयम ग्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितव्यं, दिग्विजयकाले चक्रवर्तिनां सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सहजात वैवाहिक सम्बन्धानां संयम प्रतिपत्तेरविरोधात् अथवा तकन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नरस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ व्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथा जातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्”। म्लेच्छ भूमि में उत्पन्न हुये मनुष्यों के सकल संयम का ग्रहण केसे सम्भवता है? यह आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि दिग्विजय करते समय चक्रवर्ती के साथ आर्यखण्ड में चले आये और चक्रवर्ती, मण्डलेश्वर आदि के साथ जिनका वैवाहिक सम्बन्ध हो गया है। अपनी या उनकी कन्यायें ले ली, और दे दी गई हैं, ऐसे म्लेच्छ राजाओं के संयमलब्धि की प्राप्ति हो जाने का कोई विरोध नहीं है अथवा चक्रवर्ती आदि के साथ परिणाई गई कन्याओं के गर्भ में उत्पन्न हुये इन म्लेच्छ नामधारी मनुष्यों के सकल संयम सम्भव पाया जाता है। तिस प्रकार की जाति वाले म्लेच्छ मनुष्यों की दीक्षा योग्यता में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। सागरधर्मामृत में “शुद्रोष्युपरकराचार वपुः- शुद्ध्याऽस्तु तादृशः, जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धो ह्यात्मास्ति धर्मभाक्”। श्री समन्वयभद्राचार्य ने लिखा है “सम्यगदर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम, देवा देवं विदुर्भस्मगूढाडगारान्तरोजसम्” यों रत्नकरण्ड श्रावकाचार में घोषित किया है। श्री रविषेणाचार्य ने पदमपुराण में “न जातिर्गहिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम्, व्रतस्थमपि चांडालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः” लिखा है। श्री अकलंकदेव ने राजवार्तिक में दशों प्रकार के सम्यगदर्शन के

धारने वाले जीवों को "दर्शनार्थ" कहा है। ऐसी दशा में शुद्र या तिर्यच अथवा म्लेच्छ भी आर्यों में गिने जा सकते हैं। किन्तु सम्पूर्ण तिर्यचों के, भले ही वे उत्तम भोगभूमियां कर्यों न हो, श्री गोमटसार में नीच गोत्र का ही उदय माना गया है। शुद्रों के भी नीच गोत्र का उदय है। साथ में 'जातिगोत्रादिकर्मणि शुक्लध्यानस्य हेतवः, येषां रस्युस्ते त्रयो वर्णाः शेषाः शुद्राः प्रकीर्तिः' यह सिद्धान्त भी जागरुक है। सर्वथा म्लेच्छों के से व्यवहार में लवलीन हो रहे यवन, खुरपल्टा, कराई, चर्मकार, आदि को क्षेत्र की अपेक्षा आर्य कहा जा रहा है। शुद्र, श्रावक या तिर्यच श्रावक को अल्प सावधकर्मा आर्यों में गिनाया है। ऐसी पर्यालोचना करने पर यह प्रतीत हो जाता है कि, आर्यों के उच्चगोत्र का उदय और म्लेच्छों के नीचगोत्र का उदय मानना बाहुल्य की अपेक्षा स्वरूप कथन मात्र है। लक्षण नहीं है। विशेषकर विद्वान् इस पर और भी अधिक विचार कर सकेंगे।

प्रामर्द्धीतरभेदेन	तत्रार्या	द्विविधा:	स्मृताः ।
सदगुणैरर्यमाणात्वादगुणवद्विश्च		मानवैः ॥	
तत्र	प्राप्तर्दयः	सप्त	विद्यार्थिमधिसंसृताः ।
बुद्ध्यादिसमधा	नाना		विशेषारत्तद्विशेष्यतः ॥

उन मनुष्यों में आर्य मनुष्य तो ऋद्धि प्राप्त और इतर यानी "जो ऋद्धि प्राप्त नहीं है" इन दो भेदों से दो प्रकार की आम्नाय द्वारा माने गये हैं। आर्यशब्द की निरुक्ति इस प्रकार है कि समीचीन गुणों को करके अथवा गुणवान् मनुष्यों को करके जो सेवित हो रहे हैं, इस कारण वे रोतनीय पुरुष आर्य मनुष्य कहे जाते हैं। उन आर्यों में ऋद्धियों को प्राप्त हो चुके मनुष्य तो सात प्रकार की ऋद्धियों पर अधिकार करते हुये ऋद्धियों से संगत हो रहे हैं। अपने-अपने उन भेद प्रभेदों से अनेक विकल्पों को धार रही वे ऋद्धियां बुद्धि ऋद्धि, तप ऋद्धि आदि सात प्रकार की हैं।

ऋद्धिप्राप्तार्याः सप्तविधः सप्तविधर्थिमासृता हि ते। सप्तविद्यर्थिः पुनर्बुद्ध्यादिस्तथाहिबुद्धितपोविक्रियाऔषधरसबलाक्षीणदर्थयः सप्त प्रज्ञापिता:

नाना विशेषाश्र प्राप्तर्धयो भवत्यार्यास्तद्विशेष्यात्। बुद्धिविशेषर्थिप्राप्ता हि बीजबुध्यादयः, तपोविशेषर्थिप्राप्तारत्तमतपः प्रभृतयः, विक्रियाविशेषर्थिप्राप्ता एकत्वविक्रियादिसमर्थाः, औषधविशेषर्थिप्राप्ता: जलोषधिप्राप्तादयः, रसर्थि प्राप्ताः क्षीरस्त्राविप्रभृतयः बलविशेषर्थिप्राप्ता मनोबलप्रभृतयः, अक्षीणविशेषायार्थिप्राप्ताः पुनरक्षीणमहालयादय इति। अन्ये त्वाहः ऋद्धि प्राप्तार्था अष्टविधाः बुद्धिक्रियाविक्रियातयोबलौषधरस क्षेत्रभेदादिति। ते कुतः संभाव्या इत्याह।

जब कि वे ऋद्धियों को प्राप्त हो चुके आर्य सात प्रकार की ऋद्धियों के आश्रय हो रहे हैं, इस ही कारण सात प्रकार वाले माने गये हैं। सात प्रकार की बुद्धि आदिक ऋद्धियां तो फिर यह है। उनही को ग्रंथकार दिखलाते हैं। बुद्धिऋद्धि, तपऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, औषधऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि, अक्षीणऋद्धि, ये नाना प्रभेदवाली सात ऋद्धियां अच्छी जतायी गयी हैं। उन ऋद्धियों की विशेषता से आर्य ऋद्धि को प्राप्त कर जाते हैं। बुद्धिऋद्धि के विशेष भेद हो रही बीजऋद्धि, कोषऋद्धि, आदि को प्राप्त हो रहे आर्य हैं इस कारण वे बीजबुद्धि, कोषबुद्धि पदानुसारी, संभिन्न-श्रोता आदि माने जाते हैं तथा तपऋद्धि के विकल्प हो रही उग्रतप, दीप्तप, तसऋद्धि आदि को प्राप्त हुए। तस्तपाः महातपा महाधोरतपाः उग्रतपाः महिमा, गरिमा आदि क्रियाओं को करने में समर्थ हो रहे स्मरण किये गये हैं एवं औषध ऋद्धि के विशेष अंशों को प्राप्त हो चुके आर्य जल्लौषधिप्राप्त, मलौषधिप्राप्त, दृष्टिविष, आदि पाये गये हैं। रस ऋद्धि को प्राप्त हो रहे आर्य तो क्षीरास्त्रवी, मध्वार्स्त्री, आदिक हैं। मनोबली, वचनबली, आदिक आर्य जिनागम में बल के विशेष हो रही ऋद्धियों को प्राप्त हुये समझे गये हैं। अक्षीण ऋद्धि के विकल्प हो रही ऋद्धियों को प्राप्त कर चुके आर्य मुनि फिर अक्षीण महालय आदिक देखे गये हैं। इस प्रकार ऋद्धि प्राप्त आर्यों के सात भेद हैं। दूसरे श्री अकलंक देव प्रभृति आचार्य ऋद्धि प्राप्त आर्यों को आठ प्रकार स्वीकार करते हैं। वे आठ प्रकार बुद्धिऋद्धि, क्रियाऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, तपऋद्धि, बलऋद्धि, औषधऋद्धि, रसऋद्धि, क्षेत्रऋद्धि इन आठ भेद वाली ऋद्धियों के धारने से हो जाते हैं अर्थात् उन

सातों का इन आठों से अविरोध है। क्रियाऋद्धि का विक्रियाऋद्धि में ही अंतर्भाव कर लिया जाता है। अक्षीण ऋद्धि और क्षेत्रऋद्धि का अभिप्राय एक ही है। प्रवक्ताओं की वचनभंगी अनुसार भेद करने में शब्दकृत अंतर भले ही पड़ जाय, अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। चाहे अनुमान के प्रतिज्ञा हेतु ये वो दो अवयव मान लिये जायें अथवा पक्ष, साध्य, हेतु ये तीन अंग मान लिये जायें एक ही तात्पर्य बैठता है। यहाँ किसी का प्रश्न है कि, वे ऋद्धियां या ऋद्धिधारी आर्य भला किस प्रमाण से निर्णित होकर संभावना करने के योग्य हैं? प्रत्यक्ष प्रमाण से अत्र, अधुना, ऋद्धिधारी मनुष्यों के दर्शन होना दुर्लभ है। एक बात यह भी पूछनी है कि अष्ट महानिमित्त का ज्ञान, अणु शरीर बना लेना, मेरु से भी बड़ा शरीर बना लेना, छोटे से स्थान में असंख्य जीवों का निर्बाध बैठ जाना इत्यादिक ऋद्धियों की शक्तियां कैसे समझ ली जायें? यों जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचन को कहते हैं।

संभाव्यंते चते हेतु विशेषवशवर्तिनः ।
केचित्प्रकृष्ट्यमाणात्मविशेषत्वात्प्रमाणवत् ॥

वे ऋद्धि को प्राप्त हुये कितने ही एक आर्य (पक्ष) अपने - अपने विशेष हेतुओं की अधीनता से वर्त रहे संते संभावित हो रहे हैं (साध्य) तारतम्य मुद्रा अनुसार प्रकर्षकों को प्राप्त हो रहे, अपने-अपने विशेष स्वरूपों का धारक होने से(हेतु) लम्बाई, चौड़ाई, रूप विशेषताओं को धारनेवाले परिमाण के समान (अन्वयदृष्टान्त) अथवा प्रमाण ज्ञान के समान अर्थात्- जैसे परपदार्थों की अपेक्षा न्यून होते होते और आत्म विशुद्धि के बढ़ते बढ़ते जैसे ज्ञान में प्रमाणता बढ़ती जाती है, उसी प्रकार जीवों में ऋद्धि शक्तियां भी बढ़ती जाती हैं। थोड़े थोड़े ज्योतिषविद्य, भूशास्त्र, स्वरशास्त्र के, जानने वाले आजकल भी पाये जाते हैं। एक विद्यार्थी पहिली बार अष्टसहस्री को छह महीने में पढ़ता है। पुनः पाठकों को विचारता हुआ पन्द्रह दिन में हृदयंगत कर लेता है। पश्चात् परिशीलन करता हुआ चार ही दिन में पूरे अष्टसहस्री

ग्रन्थ का अनुगम कर लेता है। यों अभ्यास करते हुये छात्र परीक्षा काल में अष्टसहस्री के प्रमेय को अन्तर्मुहूर्त में ही अनुगत कर लेता है। कबूतर, बिचू के मल, मूत्र में, कितनी ही लाभदायक शक्तियाँ हैं। हर्ष अवस्था में या व्यायाम करने पर शरीर फूल जाता है। चिन्ता, शोक अवस्था में शरीर कृष हो जाता है। शारीरिक वायु को वशकर प्राणायाम द्वारा कतिपय चमत्कार दिखा दिये जाते हैं। आकाश या जल में मनुष्य का चलना बन सकता है। अनेक जीवों का वश में कर लेना कोई अशक्य नहीं है। कई साधुओं की घोर तपस्या प्रसिद्ध है। मांत्रिक, तांत्रिक, पुरुषों के देखने मात्र से विष उतर जाता है। हाँ, उत्कट तपस्यायों को आचरने वाले आर्य मुनियों के उक्त ऋद्धियां अत्यधिक रूप से बढ़ जाती हैं। जो अतिशय क्रम से बढ़ रहा है। वह आकाश में परिमाण के समान पूर्ण प्रकर्षता को भी प्राप्त कर लेता है। जब कि जड़ पदार्थ ही विज्ञान प्रयोग अनुसार अनेक चमत्कारों को कर रहे हैं, तो अनन्तशक्तिवाले आत्मा की ऋद्धियों के साधने में कोई संशय नहीं रह जाता है।

यथा परिमाणमापरमाणोः प्रकृष्ट्यमाणरस्वरूपमाकाशे परमप्रकर्षप-
र्यंतप्राप्तं सिद्ध्यत्तदंतराले अनेकधा परिमाणप्रकर्ष साधयति तथा सर्वजघन्य-
ज्ञानादिगुणार्धिविशेषादारं, भ्यार्धिविशेषः प्रकृष्ट्यमाणरस्वरूपं
परमप्रकर्षपर्यंतमाप्लवन्तरालर्धिविशेषप्रकर्षं साधयतीति संभाव्यंते सर्वे
बुद्ध्यतिशयधिविशेषादयः परमागमप्रसिद्धाश्चेति न किंचिदनुपपन्नं। के
पुनरसंप्राप्तर्थ्य इत्यावेदयति ।

जैसे कि प्रत्येक द्रव्य में पाये जा रहे प्रदेशसत्त्व गुण का विवर्त, लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई रूप परिमाण से जैसे एक प्रदेशी परमाणु से प्रारम्भ कर अपने-अपने शनै-2 बढ़ रहे स्वरूप को धार रहा सीमापर्यन्त पहुंचकर आकाश में परमप्रकर्ष को प्राप्त हो चुका यह सिद्ध हो जाता है और उसके अन्तराल में पाये जाने वाले अनेक प्रकार परिमाणों के प्रकर्ष को साध लेता है अर्थात् सबसे छोटा परिमाण परमाणु का है और आकाश का सबसे बड़ा माप है।

बिचले घट गंगानदी, जम्बूद्वीप, स्वयंभूरमण समुद्र, लोकाकाश ये मध्यम परिमाण वाले हैं। उस ही प्रकार सबसे छोटे लब्धयपर्याप्तक निरोदिया जीव के जघन्यज्ञान, अत्यल्प कायबल, आदि गुणस्वरूप ऋद्धि विशेषों से प्रारम्भ कर बुद्धि, बल आदि ऋद्धियों के विशेष रूपसे अपने बढ़ रहे स्वरूप के परम प्रकर्ष पर्यन्त प्राप्त हो रहे सन्ते अन्तरालवर्ती ऋद्धिविशेषों के प्रकर्ष को साध देते हैं। इस ढंग से सभी बुद्धि का अतिशय रूप विशेष ऋद्धि या विक्रिया विशेष ऋद्धि, बल ऋद्धि, आदि को धारने वाले आर्य मनुष्य सम्भावित हो रहे हैं। यों अनुमान से ऋद्धिधारी मनुष्यों की सिद्धि हो रही है तथा सर्वज्ञ आम्नाय से प्राप्त हुये सर्वात्कृष्ट आगम प्रमाण द्वारा ही ऋद्धिप्राप्त आर्य प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार कोई भी ऋद्धि या ऋद्धिधारियों की अनुपपत्ति नहीं है। यहां कोई पुनः प्रश्न उठाता है कि ऋद्धिप्राप्त आर्य मनुष्यों को हम निर्णीत कर चुके हैं। अब महाराज फिर यह समझाइये कि वे ऋद्धियों की भले प्रकार प्राप्ति से रहित हो रहे आर्य भला कौनसे मनुष्य हैं? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधान का विज्ञापन करते हैं।

असंप्राप्तधयः क्षेत्राद्यार्या बहुविधाः स्थिताः।
क्षेत्राद्यपेक्षया तेषां तथा निर्णीतियोगतः॥

ऋद्धियों की सम्प्राप्ति से रहित हो रहे दूसरे आर्य तो क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, इत्यादिक बहुत भेद, प्रभेद वाले व्यवस्थित हो रहे हैं। क्षेत्र, कर्म, आदि की अपेक्षा करके उन मनुष्यों का तिस प्रकार क्षेत्र से आर्य, जाति से आर्य, आदि स्वरूपोंकर के निर्णय हो जाने का योग मिल रहा है।

क्षेत्रार्या, जात्यार्याः, कर्मार्याश्चित्रार्या, दर्शनार्याश्चत्यनेकविधाः
अनुद्धिप्राप्तार्याः प्रत्येतव्या तथा प्रतीतियोगात्।

क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य, दर्शनार्य इस ढंग से क्षेत्र आदिक की अपेक्षा करके अनेक विकल्पवाले ऋद्धि प्राप्ति से शून्य हो रहे आर्य समझ

लेने चाहिए क्योंकि तिस प्रकार की प्रतीतियों का योग पाया जा रहा है अर्थात्- इस आर्यखण्ड में काशी देश, अवधप्रान्त, विहार प्रदेश, आदि में जन्म लेकर बस रहे मनुष्य तो क्षेत्र की अपेक्षा आर्य हैं। इक्ष्वाकुवंश, नाथवंश आदि कुलों में उत्पन्न हुये पुरुष जाति अपेक्षा आर्य हैं। पाप कर्मा, अन्य पापकर्मा और निष्पाप कर्मा, की अपेक्षा कर्मायों के तीन भेद हैं। यो - अध्ययन अध्यापन, असि, मषी आदि कर्मों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र वर्ण वाले मनुष्य या श्रावक मुनि श्री कर्म आर्य हैं। चारित्र पालने की अपेक्षा ग्यारहवें, बारहवें, गुणस्थानवर्ती मनुष्य अथवा अन्य भी चारित्रवान् पुरुष चारित्र आर्य हैं। दस प्रकार के सम्यदर्शन को धारने वाले दर्शन आर्य हैं।

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदेवकुरवकाः 130।

(त.वा.पृ.349)

एक, दो, तीन पल्योपमस्थितियों को धारनेवाले हैमवतक और हारिवर्षक तथा दैवकुरवक हैं अर्थात्- हैमवत क्षेत्र में रहनेवाले जघन्य भोग भूमियों के मनुष्य और पंचेन्द्रिय संज्ञीतिर्यचोंकी उत्कृष्ट आयु दो अद्वापल्य है। दैवकुरु में निवास कर रहे उत्तम भोगभूमियों के मनुष्य तिर्यचों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है। इनकी जघन्य आयु तो एक समय अधिक एक कोटि पूर्व वर्ष और एक समय अधिक एक पल्य तथा एक समय अधिक दो पल्य यथाक्रम से समझ लेना।

विदेह क्षेत्र से उत्तरवर्ती परली ओर के भोगभूमियों की किस प्रकार स्थितियां हैं? यों जिज्ञासा होने पर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं। **तथोत्तरा : 31।**

इसी प्रकार उत्तर देशवर्ती जीवों की स्थितियों को समझ लेना चाहिये अर्थात् - पांच मेरु सम्बन्धी पांच हैरण्यवत क्षेत्रों में भोगभूमियों की स्थिति एक पल्योपम है वहां सर्वदा सुषमदुःषमा काल अवस्थित रहता है। पांच मेरु सम्बन्धी रम्यक क्षेत्रों में भोगभूमियां दो पल्य की आयु को धारने वाले हैं। यहां सर्वदा सुषमाकाल तदवस्थ रहता है तथा पांच उत्तरकुरुओं में तीन

पल्योपम की स्थिति है। यहां सर्वदा सुषमसुषमा काल वर्तता रहता है। यों जम्बूदीप के उत्तर प्रान्त में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भोगभूमियां तदवर्स्थ हैं।

हैरण्यवतकरम्यकोत्तरकुरवका एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकादि वदित्यर्थः। त.सू.अ.३सू.३।

इस सूत्र का यह अर्थ है कि हैमवतक आदि के समान ही परली ओर के जीवों की स्थिति है। हैमवतकों के समान हैरण्यवतक जीवों की स्थिति एक पल्योपम है। हरिवर्ष में रहने वाले मनुष्य, तिर्यचों के समान रम्यक निवासियों की दो पल्योपम आयु स्थिति है। दैवकुरुवकों के समान उत्तरकुरुस्थायी मनुष्य तिर्यच तो तीन पल्योपम स्थिति को धार रहे हैं अर्थात्- भोगभूमियों में विकलत्रय और लब्ध्यपर्याप्तक जीव नहीं पाये जाते हैं। हां, पांचों काय के स्थावर जीव वहां विद्यमान हैं। उत्कृष्ट स्थिति बाईस हजार वर्ष, सात हजार वर्ष, तीन दिन, तीन हजार वर्ष, दस हजार वर्ष, यथाक्रम से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पतिकायिक जीवों की हैं। इनकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त भी वहां पायी जाती है। जैसे कि उत्तरकुरु में जघन्य आयु एक समय अधिक दो पल्य और उत्कृष्ट पूरे तीन पल्य की है। ये भोगभूमियां मनुष्य या तिर्यच दोनों स्त्री या पुरुष का युगल होकर उपजते हैं। पहिले युगल की स्त्रियां छींक से और पुरुष केवल जंभाई लेने से पूर्ण आयु के अन्त में मर जाते हैं, विद्युत के समान उनका शरीर विघट जाता है। नवीन युगल सात दिन तक अपने अंगूठे का पान करते हुये ऊपर को मुख करके लेटते हैं। पीछे सात दिन तक भूमि में रंगते रहते हैं। तीसरे सप्ताह में अव्यक्त मधुर भाषण करते हुये गिरते पड़ते पाँवों से चलते हैं। चौथे सप्ताह में पाँवों को जमाकर चल लेते हैं। पांचवे सप्ताह में कलागुणों को धारण कर लेते हैं। छठ्टे सप्ताह में तरुण अवस्था को प्राप्त होकर भोगों को भोगते हैं और सातवें सप्ताह करके सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। जघन्य भोगभूमियां मनुष्यों का शरीर दो हजार धनुष ऊँचा हैं। एक दिन बीच में अन्तर देकर एक बार

आगले बराबर भोजन करते हैं। मध्यम भोगभूमियां मनुष्यों का शरीर चार हजार धनुष ऊँचा है। दो दिन बीच में अन्तर देकर एक बार बेहड़े समान आहार लेते हैं। यह आहार अतीव गरिष्ठ होता है, जैसे कि, चक्रवर्ती या नारायण, प्रतिनारायण के भोजन को साधारण मनुष्य नहीं पचा सकता है, भोगभूमियों का आहार योग्य द्रव्य, उससे भी कहीं अत्यधिक गरिष्ठ होता है। उत्तम भोगभूमियां मनुष्यों का शरीर छह हजार धनुष यानी तीन कोस ऊँचा है और आठवें भक्त यानी तीन दिन बीच में अन्तर देकर चौथे दिन छोटे बेर तुल्य एक बार आहार लेते हैं। कर्म भूमि के मनुष्यों की अपेक्षा जैसे हाथी, घोड़े, बैल, आदि का शरीर जिस क्रम से बढ़ा हुआ है, उसी प्रकार वहां भी तिर्यचों का शरीर मनुष्य शरीर से बड़ा है। हां, गेहूं, चने, जौ आदि में कोई विशेष अंतर नहीं है। यों देश भेद से इनमें थोड़ा बहुत अब भी अंतर पाया जाता है। जो वनस्पतियां बीज अनुसार उपजती हैं, वे गेहूं, चना, आम, नींबू, अनार आदि भोगभूमियों में अवश्य पायी जाती हैं। भले ही उनका उपयोग नहीं होय। आज कल भी तो लाखों वनस्पतियां वन में यों ही नष्ट हो जाती हैं। बीजरूप संतान उनकी बनी रहती है। भरत, ऐरावत क्षेत्रों में भोगभूमियों के समय भी बीजांकुर न्याय से अनादिकालीन उक्त वनस्पतियां अवश्य थीं। हां, कर्मभूमियों के वृक्षों के तारतम्य अनुसार भोगभूमि में मनुष्यों की अपेक्षा वृक्ष महान् (बड़े) हैं। वनस्पतिकायिक कल्पवृक्ष भी है। दस प्रकार के पृथ्वी विकार कल्पवृक्ष जघन्य भोगभूमि में दस कोस ऊँचे हैं। मध्यम भोगभूमि में बीस कोस ऊँचे और उत्तम भोगभूमि में तीस कोस ऊँचे वृक्ष हैं। उन कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुये भोगों को भोगभूमियां जीव सदा भोगते रहते हैं। मद्यांग जाति के वृक्षों से वे मद्य को प्राप्त कर लेते हैं, जैसे कि, ताड़ वृक्षों से भील ताड़ी को प्राप्त कर लेते हैं। यहां मद्य का अर्थ सुरा (शराब) से नहीं है, किंतु दूध, दही, घी, इक्षुरस, आमरस आदि की सी सुगंधियों को धार रहा पीने योग्य द्रवद्रव्य है। कामशक्ति का जनक होने से उसको उपचार से मद्य कह दिया जाता है। वादित्रांग जाति के कल्पवृक्षों से मृदंग, ढोल, घंटा, वीणा आदि फल फूल रहे बाजे प्राप्त हो जाते हैं।

तीसरे भूषणांग जाति के कल्पवृक्षों से भोग भूमियां फल फूल रहे कड़े, करघनी, हार, कुंडल, अगूंठी आदि अलंकारों को लेकर पहन लेते हैं। चौथे माल्यांग कल्प वृक्षों से चंपा, चमेली, केवड़ा, जुही, गुलाब आदि की फलती फूलती मालाओं या पुष्पों को तोड़कर व्यवहार में लाते हैं। पांचवे ज्योतिरिंग कल्प वृक्षों से ऐसे चमकीले पदार्थों को प्राप्त कर लेते हैं जिनसे कि सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र आदि विमानों की कांति भी छिप जाती है। इस ही कारण तीन भोग भूमियों में अभिभूत सूर्य चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क मंडल दर्शन नहीं हो पाता है, जैसे कि, दिन में तारामंडल नहीं दिखता है। छठे दीपांग जाति के कल्पवृक्षों से चमकदार फले हुये लाल, हरे, पीले, दीपों को तोड़ लाकर वे अपने महल में धर लेते हैं। सातवें गृहांग जाति के कल्पवृक्ष तो रत्नमय कोठियां, कोट, महल, कमरा आदि रूप कर के परिणमते हुये फल जाते हैं। आठवें भोजनांग कल्पवृक्ष तो छह रस युक्त अमृतमय दिव्य आहार रूप होकर फलते हैं। नौवें भाजनांग कल्पवृक्ष सोने, चांदी रत्नों के बने हुये कलश, थाली, कटोरा, डेंग आदि रूप फल जाते हैं तथा दसवें वस्त्रांग जाति के कल्पवृक्षों से अनेक प्रकार के सुन्दर वस्त्रों को वे प्राप्त कर लेते हैं। ये पार्थिव कल्पवृक्ष इन पांचों भरत और ऐरावत क्षेत्रों में भोगभूमि सम्बन्धी व्यवहार काल को निमित्त पाकर उपज जाते हैं। कर्मभूमि सम्बन्धी व्यवहार काल की प्रवृत्ति होने पर विनश जाते हैं किन्तु स्वर्ग, हैमवतक, देवकुरु, हरिवर्ष, सूर्यविमान, श्री देवी गृह, भवनवारी या व्यंतरों के भवन आदि में ये कल्पवृक्ष सर्वदा बने रहते हैं। आजकल भी प्रायः सभी भोगोपभोगों के उपयोगी पदार्थ इन्हीं एकेन्द्रिय वृक्ष या खानों से उपजते हैं। भूषण या प्रकाश के उपयोगी सुवर्ण, रत्न आदि पदार्थ तो खानों से प्राप्त कर लिये जाते हैं। खानों से मिट्टी, पत्थर, कंकड़, लोहे को लाकर सुन्दर, गृह, किले, कोठियां, महल बना दिये जाते हैं। वृक्षों की लकड़ी से किवाड बन जाते हैं। अन्तर इतना ही है कि कार्तिक मास में गेंहू बो देने पर हमको वैसाख में फलकर छह या पाँच महिने पश्चात् खेत से गेंहू प्राप्त होता है और उस जाति के कल्पवृक्षों से अन्तर्मुहूर्त में ही नियत अभिलाषित वरतु की इच्छा अनुसार प्राप्ति हो जाती है। इसमें

कोई आश्चर्य नहीं है। कदाचित् किरी-किरी व्यक्ति की इच्छा अनुराग तत्क्षण मलसाव (लघु-दीर्घ शंका) जंभाई लेना, मद (नशा) हो जाना आदि कियायें हो जाती हैं। जगत् के सम्पूर्ण कार्य अपने-अपने कारणों द्वारा सम्पादित हो रहे हैं। अन्तर इतना ही है कि कोई कार्य विलम्बसाध्य है तथा पुण्यशालियों के अनेक कार्य क्षिप्र हो जाते हैं। वर्तमान कर्मभूमि में भी उत्पाद प्रक्रिया का तारतम्य देखा जाता है। हथिनी अठारह महिने में प्रसव करती हैं। गर्भधारण के तेरहमास पीछे ऊंटिनी बच्चों को जनती है। घोड़ी बारह महिने में, भैंस दस महिने में, गायें या स्त्रियां नौ मास में अपत्य (संतान) को उपजाती हैं। छिरिया (बकरी) छह महिने में, कुतिया तीन महिने में व्याय जाती हैं। गर्भ स्थिति के पश्चात् मुर्गी दस दिन पीछे अण्डा देना प्रारम्भ कर देती है। कबूतरी गर्भस्थिति के सात दिन पश्चात् प्रसूता हो जाती है। भिन्न-भिन्न ऋतु या न्यारी-न्यारी देश परिस्थिति अथवा विज्ञान प्रयोग प्रक्रिया द्वारा शीतोष्णता अनुसार उक्त काल मर्यादा में न्यूनता, अधिकता भी हो जाती है। विज्ञान प्रक्रिया द्वारा कबूतरी, मुर्गी, आदि का प्रसव शीघ्र भी करा दिया जा सकता है। पदार्थों में अचिंत्य निमित्त - नैमित्तिक शक्तियां भरी हुई हैं। वर्षों के कार्य महिनों में और महिनों के कार्य दिनों में तथा दिनों के कार्य घण्टों में उपज जाते हैं। इस ही जनता के तारतम्य अनुसार कल्पवृक्षों से भी उसी प्रकार उचित भोगोपभोग के योग्य पदार्थों की प्राप्ति हो जाती है। कल्पवृक्ष चाहे जो भी हों सभी पदार्थों को नहीं दे सकते हैं। आम के पेड पर अमरुद नहीं फलते हैं। इसी प्रकार पुत्र, गाय, घोड़ा, हाथी, मकरी, चीटी, या चरखा, खात, कूड़ा, समाचार पत्र, पुस्तके, अस्त्र, शस्त्र, आदि पदार्थों को वे दस जाति के कल्पवृक्ष नहीं दे सकते हैं क्योंकि पुत्र आदि के उपजाने की उन कल्पवृक्षों में निमित्त - नैमित्तिक शक्तियां या उपादान, उपादेय व्यवस्थायें नहीं हैं जब कि जगत् में पौरुषार्थिक या प्राकृतिक नियम अनुसार कार्योत्पत्ति में अनेक विचित्रतायें दृष्टिगोचर हो रही हैं। छकड़ों या बैलगाड़ियों द्वारा जो मार्ग महिनों में ही परिपूर्ण किया जाता था रेलगाड़ियों या विमानों द्वारा वह मार्ग दिनों या घंटों में गमन कर लिया जाता है। मिनिटों या सैकिंडों में हजारों

कोस दूर समाचार पहुंचा दिये जाते हैं। गुलाब शीघ्र उपजा लिया जाता है। उसका फूल दस गुना बड़ा कर लिया जाता है। प्रयोगों द्वारा नीम की कटुता न्यून कर दी जा सकती है। साङ्कर्य यानी कलम लगा देने से आम, लुकाट, सन्तरों आदि की दशायें परिवर्तित हो जाती हैं। दुर्बल मनुष्य अतिशीघ्र सबल और बलवान जीव प्रयोगों या औषधियों द्वारा निर्बल किया जा सकता है तथा भूमियां ऋतुयें या फलने, फूलने के व्यवहारकाल उपादान द्रव्य आदि के अनुसार प्राकृतिक नियमों में विलक्षणतायें हैं। बीज बोये जाने से पचास वर्ष पीछे खिस्तीका वृक्ष फलता है। अखरोट कदाचित् इससे भी अधिक समय ले लेता है। इमली, कटहल वपन होने के पश्चात् बीस, पच्चीस वर्ष में फलित होते हैं। आम्रफल पांच छह वर्ष के वृक्ष पर ही आ जाते हैं। बीज डालने के दो वर्ष पीछे आँढ़ या आँलू बुखारे ये वृक्ष पर लग जाते हैं। अरण्ड एक वर्ष में फल जाता है। बोये पीछे ग्यारह महीने में अरहर पक कर आ जाती है। गेहूँपांच महीने में, बाजरा मक्का तीन महीने में, समा चावल दो महीने में फल दे देता है। भूमि में बोये जाने के पश्चात् पोदीना पन्द्रह दिन में, मेथी तीन दिन में और सणी एक दिन में नवीन पत्ते दे देती है। इसी प्रकार कल्पवृक्षों से कुछ मिनिटों में ही नियत पदार्थ उपज जाते हैं। ताड़वृक्ष की छाल ताना वाना पुरे हुये वस्त्र के समान है। कई वृक्षों पर कटोरा कटोरी सरीखे पत्ते या फल लग जाते हैं। तोरई का बाजा बजाया जा सकता है। लौकातुम्बी तो बीन, सितार, तमूरा, आदि में उपयोगी हो रहे हैं। भांग, महुआ, ताड़ी, अंगूर, अफीम, डोड़ा आदि वृक्ष मदकारक पदार्थों के उत्पादक हैं। गेहूँ, चावल, आम, अमरुद, केला आदि भोक्तव्य पदार्थों के वृक्ष प्रसिद्ध ही हैं। बहुभाग वस्त्र कपास वृक्षों के फूलों से बनाये जाते हैं। दीपक के उपयोगी पदार्थ तो तिल, सरसों के, वृक्षों से या पार्थिव खानों से ही प्राप्त होते हैं। पुद्धलों की रगड़ से चमकनेवाली बिजली बन जाती है। बात यह है कि गम्भीर दृष्टि से विचारने पर कल्पवृक्षों से नियत वस्तुओं की प्राप्ति का सिद्धांत पुष्ट हो जाता है। विशेषज्ञ पुरुष इसको अनेक अन्य युक्तियों द्वारा भी समझ-समझा सकते हैं। कर्मभूमि के अपुण्यशाली जीवों को जो पदार्थ वर्तमान वृक्ष-

या खानों द्वारा वर्षों अथवा महीनों में प्राप्त होना दुर्लभ होते हैं, किन्तु यह भोगभूमियों के वृक्ष अन्तर्मुहूर्त में ही उन अधिक सुन्दर अभीष्ट पदार्थ रूप फल जाते हैं। यहां भी आम के वृक्ष से अमरुद या अनार नहीं मिल सकते हैं। उसी प्रकार भोगभूमि में भी वादित्रिंग वृक्षों से भोजन या वस्त्र प्राप्त नहीं हो सकते हैं। उपादान उपादेय शक्ति का या निमित्त - नैमित्तिक भाव का कहीं भी अतिक्रमण नहीं हो सकता है। भोगभूमियों में अमृत रस के समान स्वादवाली चार अंगुल ऊंची और मुख की भाप से ही टूट जाय ऐरी कोमल घास उपजती रहती है। गाय, भैंस आदि पशु उस घास को चरते हैं, वहां की भूमियां बड़ी सुन्दर बनी हुई हैं। कहीं-कहीं सीढ़ीदार बावडी, सरोवर, नदियां और क्रीड़ापर्वत भी विद्यमान हैं। नदी के किनारों पर रत्नपूर्ण मिश्रित बालु के ढेर लग रहे हैं। जैसे कि आजकल भी कुछ बालु में भुड़-भुड़ या चांदी के कण, माणिक रेती आदि पायी जाती है। मांस भक्षण नहीं करने वाले और परस्पर में अविरोध रखते हुये वहां पंचेद्रियतिर्यच जीव भी हैं। चूहे, सर्प, नौला, उल्लू, बगुला आदि तिर्यच और विकलत्रय जीव अथवा असंज्ञी जीव या नपुंसक पंचेद्रिय एवं जलचर त्रस ये भोगभूमि में नहीं पाये जाते हैं। सभी मनुष्य, तिर्यच विनीत, मन्दकषाय, मधुरभाषी, कलाकुशल, अमायाचारशील आदि से संयुक्त हैं। इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, र्वेद, ईर्ष्या, मात्सर्य, अनाचार, उन्माद, शरीर-मल, पसीना, चिन्ता, रोग, जरा, कृपणता, भय, आदि से रहित हैं। सर्वथा अष्टादश दोषों से रहित तो जिंनेन्द्र ही हैं, किर भी आजकल के मनुष्य तिर्यञ्चों समान तीव्र रोग, चिन्ता, भय, क्षुधा जरा नहीं होने से देव या भोगभूमियों निर्जर निर्भय, निरोग कह दिये जाते हैं। कर्मभूमि में मनुष्य तिर्यच या ब्रतियों को दान देने से या अनुग्रहना करने से जीवों की उत्पत्ति भोगभूमि में होती है। भरत और ऐरावत अतिरिक्त अन्य देवस्थानों या क्षेत्रों में या ढाई द्वीप के बाहर असंख्यात द्वीपों में सदा एक-सा प्रवर्तन रहता है, हां उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्रों में विशेषतया इनके आर्य खण्डों में कर्मभूमि से भोगभूमि काल से कर्मभूमि काल की परावृत्ति होती रहती है। भरत, ऐरावत, सम्बन्धी विजयार्ध पर्वत

और म्लेच्छ खंडों में चौथे काल के आदि, अंत सदृश काल वर्तता है। मोक्षमार्ग चालू नहीं है। आर्य खंड में सुषमासुषमा काल की प्रवृत्ति होने पर म्लेच्छ खंडों में शरीर पांच सौ धनुष और आयु कोटिपूर्व वर्ष है तथा आर्य खंडों में दुःष्मदुष्मा काल की प्रवृत्ति होने पर विजयार्थ और म्लेच्छ खंडों में शरीर सात हाथ और आयु एक सौ बीस वर्ष हो जाती है। जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है। श्वास के अठारहवें भाग वाला अन्तर्मुहूर्त नहीं लेना, इससे बड़ा अन्तर्मुहूर्त ग्रहण करना क्योंकि इन विजयार्थ और म्लेच्छ खंडों में लब्धपर्याप्तक मनुष्य नहीं है। बीस कोटाकोटी अध्दा-सागर के कल्प में अठारह कोटा कोटी सागर तो भोगभूमि काल है और केवल दो कोटा कोटी सागर कर्मभूमि रचना का काल है। कर्मभूमि का प्रारम्भ होते ही ये पार्थिव कल्पवृक्ष नष्ट हो जाते हैं। भोगभूमि के प्रारम्भ में पुनः उपज जाते हैं, जैसे कि यहां इस काल में भी कितने ही पर्वत उपजते-विनसते रहते हैं। किन्तु बीज से उपजने वाले वृक्षों की संतान नहीं नष्ट होती है क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं उत्पन्न हो सकता है। हाँ, मनुष्यों की आयु, अवगाहना आदि के समान वृक्षों की आयु या अवगाहना न्यून अधिक होती रहती है, जैसे कि भोगभूमियां मनुष्य तीन, दो, एक कोस ऊंचे या हाथी छह, पांच, चार, कोस ऊंचे अथवा वृक्ष तीस, बीस, दस, कोस होते हैं, उसी प्रकार घटते-घटते हुये इस समय प्रायः मनुष्य साढ़े तीन हाथ, हाथी दस हाथ, वृक्ष बीस पचास हाथ ऊंचे रह गये हैं। हाँ, किसी पदार्थ में घटी, बढ़ी का तारतम्य अधिक है और किसी में न्यून है। गेहूं, चावलों आदि के वृक्षों में उस त्रैराशिक के अनुसार हानि या वृदि या हानि नहीं होती है। थोड़ा अंतर अवश्य पड़ जाता है। चतुर्निकाय देवों के या अन्यत्र स्थानों पर पार्थिव कल्पवृक्षों के अतिरिक्त वनस्पतिकायिक कल्पवृक्ष भी पाये जाते हैं।

अपरिवर्तनशील भोगभूमिज आर्यों की आयु विदेहेषु संख्येय कालाः (32)

पांचों महाविदेहों में अथवा पांच मेरु सम्बन्धी एक सौ साठ ही विदेहों

में लौकिक गणना अनुसार संख्या करने योग्य आयुष्य काल तक जीवित रहने वाले मनुष्य निवास करते हैं।

संख्येय कालो येषां ते संख्येयकालाः संवत्सरादिगणनाविषयत्वात्तकालस्य।

जिन मनुष्यों का जीवन काल संख्या करने योग्य है वे मनुष्य संख्येयकाल हैं। क्योंकि वर्ष, दिन, मास आदि करके गिनी गयी गणना का विषय हो रहा वह काल है। विदेह क्षेत्रों में सर्वदा अवसर्पिणी के तीसरे काल सुषमदुष्मा के अंत समान काल अव्यवस्थित रहता है। मनुष्यों के शरीर पांच सौ धनुष ऊंचे हैं। नित्य एक बार भोजन करते हैं। जघन्य रूप से मनुष्यों की आयु अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट रूप से वे एक कोटि पूर्व वर्ष तक जीवित रहते हैं। चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग होता है और चौरासी लाख पूर्वांगों का एक पूर्व होता है। ऐसे करोड़ पूर्व तक विदेह क्षेत्रवासी मनुष्य जीवते हैं। हाथी, घोड़े, भैंसा, बैल आदि की आयु को इसी प्रकार समझ लेना चाहिए। विदेह क्षेत्र में द्रव्य रूप से जैन धर्म का विनाश नहीं होता है। सदा जैन धर्म की प्रवृत्ति बनी रहती है। भले ही भावों में मिथ्यात्व हो जाये। अकलंक देव ने भी आर्य एवं अनार्य का वर्णन निम्न प्रकार से किया है- 'आर्या म्लेच्छाश्च' - आर्य और म्लेच्छों के भेद से मनुष्य दो प्रकार के हैं।

(तत्वार्थवार्तिके, पृ० 556)

आर्या दिविधा ऋद्धिप्राप्तेतर विकल्पात्। गुणैर्गुणवद्विर्वा अर्यन्ते सेव्यन्ते इत्यार्याः। ते द्विविधा : ऋद्धिप्राप्तार्याः अनृद्धिप्राप्तार्याश्चेति। ऋद्धिप्राप्त और अनृद्धिप्राप्त (ऋद्धि रहित) के भेद से आर्य दो प्रकार के हैं। गुण और गुणवानों से जो सेवित हैं, वे आर्य कहलाते हैं। वे दो प्रकार के हैं- एक ऋद्धिप्राप्त और दूसरे अनृद्धिप्राप्त। अनृद्धिप्राप्तार्याः पञ्चविद्याः क्षेत्रजातिकर्मचारित्रदर्शनभेदात्। ये अनृद्धिप्राप्तार्यास्ते पंचविद्याः भवन्ति- क्षेत्रार्याः जात्यार्या कर्मायाः चारित्रार्याः दर्शनार्याश्चेति। तत्र क्षेत्रार्याः काशीकोशलादिषु जाताः। इक्ष्वाकुज्ञातिभोजादिषु कुलेषु जाता जात्यार्याः। कर्मार्यास्त्रेधा-सावद्यकर्मार्या असावद्यकर्मार्या अल्पसावद्यकर्मार्याश्चेति।

क्षेत्र, जाति, कर्म, चारित्र और दर्शन के भेद से अनृद्धि प्राप्त आर्य पाँच प्रकार के हैं। जो ऋद्धि रहित आर्य हैं, वे पाँच प्रकार के हैं- क्षेत्रार्थ, जात्यार्थ, कर्मार्थ, चारित्रार्थ और दर्शनार्थ। काशी, कोशल आदि क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्य क्षेत्रार्थ हैं। इक्ष्वाकु, भोजादि जातिओं में उत्पन्न मनुष्य जत्यार्थ हैं। कर्मार्थ तीन प्रकार के हैं-सावद्यकर्मार्थ, अल्पसावद्य कर्मार्थ और असावद्य कर्मार्थ। सावद्यकर्मार्थः षोढा-असि-मषि-कृषि-विद्या-शिल्प- वणिक्, कर्मभेदात्। असिधनुरादिप्रहरणप्रयोगकुशला असिकर्मार्थः। द्रव्यायव्ययादिलेख-ननिपुणा मषीकर्मार्थः। हलकुलिदन्तालकादिकृष्टुपकरणविद्यानविदः कृषि-बलाः कृषिकर्मार्थः। आलेख्यगणितादिद्वि-सप्ततिकलावदाता विद्याकर्मार्थ चतुःषष्ठिगुणसम्पन्नाश्च। रजकनापिताऽयरकारकुलालसुवर्णकारादयः शिल्पकर्मार्थः। चन्दनादि - गन्धघृतादिरसशाल्यादिधान्यकार्पासाद्याच्छादन-मुक्तादिनानाद्रव्यसंग्रह-कारिणो बहुविद्या वणिकर्मार्थः। षड्प्येते अविरतिप्रवणत्वात्, सावद्यकर्मार्थः, अल्पसावद्यकर्मार्थः श्रावकाः श्रविकाश्च विरत्यविरतिपरिणतत्वात्, असावद्यकर्मार्थः संयताः कर्मक्षयार्थोद्यतविरति-परिणतत्वात्। सावद्यकर्मार्थ असि, मषी, कृषि, विद्या, शिल्प और वणिकर्म के भेद से छह प्रकार के हैं। तलवार, धनुष, आदि शस्त्र-विद्या में निपुण असिकर्मार्थ हैं। द्रव्य के आय-व्यय आदि के लेखन में कुशल मानव मषिकर्म-आर्य हैं। हल, कुलिश, दन्ताल, आदि कृषि (खेती) के उपकरण विधान को जानने वाला वा कृषिकार्य करने वाला कृषि कर्मार्थ कहलाता है। लेखन, गणित, चित्रादि पुरुष की बहत्तर (72) कलाओं में चतुर मानव विद्याकर्मार्थ है। चौंसठ कला गुणों से सम्पन्न स्त्री भी विद्याकर्मार्थ है। धोबी, नापित (नाई), लुहार, कुम्भकार, सुवर्णकार आदि शिल्प कर्मार्थ हैं। चन्दनादि गंध, घृतादिरस, चावल आदि धान्य, कार्पास आदि आच्छादन (कपड़ा), मोती, माणिक्य, सुवर्ण आदि द्रव्यों का संग्रह करने वाले बहुत प्रकार के वणिकर्मार्थ हैं। ये छहों प्रकार के मनुष्य अविरति में प्रवीण होने से (व्रत रहित होने से) सावद्यकर्मार्थ कहलाते हैं। विरति-अविरति से युक्त होने से पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक-श्राविकायें अल्प सावद्य कर्मार्थ हैं। कर्मक्षय

करने में उद्यत, विरति से रत यतिजन असावद्य कर्मार्थ हैं।

चारित्रार्था द्वेधा अधिगतचारित्रार्थः अनधिगमचारित्रार्थश्चेति । तदभेदः, अनुपदेशोपदेशपेक्षभेदकृतः। **चारित्रमोहनीयरयोपशमात् क्षयाच्च बाह्योपदेशानपेक्षा आत्मप्रसादादेव चारित्रपरिणामास्कन्दिन उपशान्तकषायाः** क्षीणकषायाश्चाऽधिगचारित्रार्थः। अन्तश्चारित्रमोहक्षयोपशमसङ्गावे सति बाह्योपदेशनिमित्तविरतिपरिणामा अनधिगमचारित्रार्थः।

चारित्रार्थ दो प्रकार के हैं- अधिगत चारित्रार्थ और अनधिगत चारित्रार्थ। चारित्रार्थ के ये दो भेद बाह्य अनुपदेश और उपदेश की अपेक्षा से हैं। बाह्य उपदेश के बिना स्वयं ही चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से या क्षय से जो चरित्र परिणाम को प्राप्त होकर उपशांत कषाय और क्षीणकषाय को प्राप्त हुए हैं, वे अधिगत चारित्रार्थ हैं तथा अन्तर्गत में चारित्र मोह के क्षयोपशम का निमित्त पाकर विरति भाव को प्राप्त हुए हैं, वे अनधिगत चारित्रार्थ हैं।

आज्ञा मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ रुचि के भेद से दर्शनार्थ दस प्रकार के हैं। भगवान अर्हत्सर्वज्ञ प्रणीत आज्ञामात्र को मुख्य मानकर जो तत्व रुचि को प्राप्त हुए हैं वे आज्ञारुचि नामक दर्शनार्थ हैं। अपरिग्रही मोक्षमार्ग के श्रवण मात्र से उत्पन्न रुचि (सम्यग्दर्शन) वाले मार्गरुचि नामक दर्शनार्थ हैं। तीर्थकर, बलदेव आदि के चरित्रों के उपदेश को सुनकर जो श्रद्धान करते हैं वे उपदेश रुचि दर्शनार्थ हैं। दीक्षा मर्यादा आदि के निरुपक आचारांग आदि सूत्रों के सुनने से उत्पन्न सम्यग्दर्शन वाले सूत्ररुचि दर्शनार्थ हैं। जीवादि बीजपदों के ग्रहण पूर्वक सूक्ष्मार्थ को सुनकर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान को प्राप्त हुए हैं, वे बीजरुचि दर्शनार्थ हैं। जीवादि पदार्थों के संक्षेप कथन को सुनकर जो श्रद्धान को प्राप्त हुए हैं, वे बीजरुचि दर्शनार्थ हैं। अंगपूर्व के विषयभूत जीवादि पदार्थों के विस्तार, प्रमाण, नय, आदि के निरुपण के बल से विस्तार रूप कथन सुनकर जो श्रद्धान को प्राप्त हुए हैं, वे विस्तार रुचि दर्शनार्थ हैं। वचन के विस्तार के बिना केवल

अर्थग्रहण से जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, वे अर्थरुचि दर्शनार्थी हैं। आचारादि द्वादशांग में जिनका अतिष्ठ श्रद्धान हैं, वे अवगाढ रुचि दर्शनार्थी हैं। परमावधि, केवलज्ञान दर्शन से प्रकाशित जीवादि पदार्थों के विषय में जो आत्म निर्मलता होती है वह परमावगाढ़रुचि है। इस प्रकार रुचि के भेद से सम्यग्दर्शन दस प्रकार का है और दर्शनार्थी भी दस प्रकार के हैं।

ऋद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषधि, रस और क्षेत्र के भेद से ऋद्धि प्राप्त आर्य आठ प्रकार के हैं। बुद्धि आदि विकल्प से ऋद्धि प्राप्त आर्य आठ प्रकार के हैं। बुद्धि, अवगम ये ज्ञान के पर्यायवाची शब्द हैं। वह बुद्धि ऋद्धि अठारह प्रकार की है- केवल ज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान, बीजबुद्धि, कोषबुद्धि, पदानुसारित्वबुद्धि, संभिन्नश्रोतृत्व, दूरस्वादसमर्थता, दूरदर्शनसमर्थता, दूरस्पर्शनसमर्थता, दूरघ्राणसमर्थता, दूरश्ववणसमर्थता, दशपूर्वित्व, चतुर्दशपूर्वित्व, अष्टांग महानिमित्तज्ञता, प्रज्ञाश्रवणत्व, प्रत्येकबुद्धता और वादित्व। केवलज्ञान, अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञानरूप ऋद्धियों का वर्णन 'अतिमानवीय शक्ति' में देखें। सारभूत, भली प्रकार कर्षित और सुमधीकृत क्षेत्र में कालादि की सहायता की अपेक्षा रखने वाला बोया हुआ एक भी बीज जिस प्रकार अनेक बीजों का उत्पादक होता है, उसी प्रकार नो इन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपक्षम की प्रकर्षता होने पर एक बीज के पद के ग्रहण करने मात्र से ही अनेक पदार्थों का ज्ञान हो जाना बीजबुद्धि ऋद्धि है। जैसे- भण्डारी के द्वारा स्थापित (रखे हुए) अनेक प्रकार के धान्य भण्डार में सुरक्षित और पृथक्-पृथक् रहते हैं उसी प्रकार परोपदेश से अवधारित बहुत से पदार्थ, ग्रन्थ बीजबुद्धि रूपी कोठे में भिन्न-भिन्न सुविचारित रहते हैं, वह कोषबुद्धि है। अनुस्त्रोत, प्रतिस्त्रोत और उभय (अनुस्त्रोत प्रतिस्त्रोत) रूप भेद से पदानुसारित्व बुद्धि तीन प्रकार की है। आदि, मध्य अथवा अन्त के किसी एक पद के उच्चारण करने पर सुनकर सम्पूर्ण ग्रन्थ के अर्थ का अवधारण कर लेना या ज्ञान कर लेना वह पदानुसारित्व बुद्धिऋद्धि है। बारह योजन लम्बे और नव योजन चौड़े चक्रवर्ती के कटक में हाथी, घोड़े, ऊँट, मनुष्यादि के एक साथ उत्पन्न

अक्षरात्मक अनक्षरात्मक अनेक प्रकार के शब्दों को सुनकर तपोविशेषल के लाभ से प्राप्त सर्वजीव प्रदेशों में श्रोतेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न परिणाम से एक साथ सर्व शब्द को पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण कर लेना वह संभिन्नश्रोतृत्व नामक बुद्धिऋद्धि है। तपश्चरण की शक्ति विशेष से उत्पन्न असाधारण रसना इन्द्रिय श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम और अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के लाभ की अपेक्षा से अवधृत नवयोजन क्षेत्र से बाहर अनेक योजन विप्रकृष्टक्षेत्र से आये हुए, इसका आस्वादन करने का सामर्थ्य दूरस्वाद समर्थता ऋद्धिद कहलाती है। इरी प्रकार शेष ध्यान आदि इन्द्रियों में अपने अवधृत से बहुयोजन दूरक्षेत्र की गन्ध आदि ग्रहण करना दूरध्याण, दूरविलोकन, दूरस्पर्श और दूरसंश्रवणसमर्थता ऋद्धियों हैं। अपने-अपने रवरूप की सामर्थ्य को प्रगट करने में और कथन करने में निपुण वेगवती, महारोहिणी आदि तीन विद्यादेवताओं से प्रगट होकर तथा अनेक प्रकार का प्रलोभन मिलने पर भी जिस मुनि का चित्त क्षुभित नहीं हो वह मुनि दुस्तर दशपूर्वरूपी समुद्र का पार पाता है, उसको दशपूर्वित ऋद्धि प्राप्त होती है। जो पूर्ण श्रुत के पाठी होते हैं उनके दशपूर्वित नामकी ऋद्धि होती है। अंतरिक्ष, भौम, अङ्ग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न ये आठ महानिमित्त हैं। आकाश के सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र और तारा इन ज्योतिषी देवों के उदय-अस्तादि के द्वारा अतीतानागत फल के विभाग को जान लेना अन्तरिक्ष निमित्त है। पृथ्वी की कठोरता, कोमलता, स्निग्धता रुक्षतादि के द्वारा वा पूर्वादि दिशाओं में सूत्र पढ़ते देखकर अमुक की वृद्धि-हानि, जय-पराजयादि का परिज्ञान तथा भूमितल में निहित (गडे हुए) सुवर्ण चांदी का ज्ञान करना भौम का नाम निमित्त है। शरीर के अंग-प्रत्यंग के दर्शन-स्पर्श आदि से त्रिकालभावी सुख-दुःख आदि का निश्चय करना अंग निमित्त है। अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक सभी प्रकार के शब्दों को सुनकर इष्टानिष्ट फल का निश्चय करना स्वरनिमित्त है। सिर, मुख, ग्रीवा, आदि स्थानों पर तिल, मसा आदि चिन्ह वा व्रण आदि को देखकर त्रिकाल सम्बन्धी हिताहित को जान लेना व्यंजन निमित्त है। श्री वृक्ष, स्वास्तिक, कलश, झारी आदि

को देखकर त्रिकाल सम्बन्धी स्थान, मान, ऐश्वर्य आदि का विशेष ज्ञान होना लक्षण निमित्त है। वस्त्र, शरत्र, छत्र, जूता, आसन और शय्या आदि की जगह पर देव, मानव में होने वाले लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि का ज्ञान करना छिन्न नाम का निमित्त है। वात, पित्त, कफ आदि दोषरहित पुरुष के मुख में रात्रि के पिछले पक्ष में चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत, और समुद्र का प्रवेश अथवा, सकल महीमण्डल का आलिंगन आदि शुभ स्वप्न हैं और धी तेलआदि से अपने शरीर का विलेपन, गधे, ऊँट आदि पर आरूढ़ होकर दक्षिण दिशा में गमन आदि अशुभ स्वप्न हैं। इन स्वप्नों के देखने से आगामी काल में होने वाले जीवन-मरण, सुख-दुःख आदि को जान लेना स्वप्न नामका निमित्त है। इन आठ महानिमित्तों के ज्ञान में प्रवीणता अष्टांग महानिमित्तज्ञता नामक बुद्धिऋद्धि है।

श्रुतज्ञानियों के द्वारा ही समाधान करने योग्य अति सूक्ष्म शंकाओं का द्वादशांग का पाठी न होते हुए भी अपने विशिष्ट श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न असाधारण प्रज्ञाशक्ति के लाभ से निःसंशय होकर समाधान करना और वह प्रज्ञाश्रवणत्व बुद्धि ऋद्धि है। परोपदेश के बिना स्वभाव से स्वशक्ति विशेष के कारण ज्ञान और चारित्र के विधान में निपुण होना प्रत्येक बुद्धता ऋद्धि है। यदि इन्द्र भी आकर वाद करे तो उसे भी निरुत्तर कर देना और वादी के दोषों को जान लेना वादित्व नामकी ऋद्धि है।

क्रियाविषयक ऋद्धि दो प्रकार की है-एक चारणत्व और दूसरी आकाशगामित्व। जल, जंघा, तन्तु, पुष्प, पत्र, श्रेणी और अग्निशिखा आदि का अवलम्बन लेकर जलकाय के जीवों की गमन करने की अपेक्षा चारण ऋद्धि अनेक प्रकार की है। वापिका आदि में जल का सहारा लेकर जलकाय के जीवों की विराधना नहीं करते हुए भूमि के समान जल में पैरों को उठाने और रखने की कुशलता को जल चारण ऋद्धि कहते हैं। भूमि से चार अंगुल प्रमाण के अधर आकाश में जंघा के उत्क्षेपण, निक्षेपण शीघ्र करने में चतुर

और बहुत से योजन शीघ्र गमन करने में पटु जंघाचारण ऋद्धि है। इस प्रकार और ऋद्धियाँ भी जाननी चाहिए। तन्तु, पुष्प, पत्र, अग्निशिखा आदि पर गमन करने का सामर्थ्य तन्तुचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, अग्निचारण आदि ऋद्धियाँ हैं। पैरों का उठाना-रखना नहीं करते हुए पद्मासन और कायोत्सर्ग रूप में गमन करना आकाशगामित्व है।

विक्रियाविषयक ऋद्धि अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्रातिति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्ध्यान और काम-रूपित्व आदि के भेद से अनेक प्रकार की अणु (सुक्ष्म) सदृश शरीर बना लेना अणिमा ऋद्धि है। जो छोटे से कमल तन्तु के छिद्र में भी प्रवेश करके, उस छिद्र में बैठकर चक्रवर्ती के परिवार की विभूति की भी रचना कर सकता है, मेरु पर्वत से भी महान् शरीर की रचना करने की सामर्थ्य होना महिमा ऋद्धि है। वायु से भी हल्का शरीर बना लेना लघिमाऋद्धि है। वज्र से भारी शरीर बना लेना गरिमाऋद्धि है। भूमि पर बैठे हुए, अंगुलि के अग्रभाग से मेरुशिखर या सूर्य, चन्द्रमा आदि को स्पर्श करने की सामर्थ्य रखना प्राप्ति ऋद्धि है। जल में, भूमि के समान गमन करना और भूमि में जल की तरह उन्मज्जन-निमज्जन आदि करने की सामर्थ्य होना प्राकाम्यऋद्धि है। तीन लोक की प्रभुता रचने की सामर्थ्य का होना ईशित्व है। सर्वजीवों को वश में कर लेने की सामर्थ्य वशित्वऋद्धि है। पर्वत के मध्य भाग में आकाश के समान गमनागमन करना वा पर्वत में घुस जाना अप्रतीघात ऋद्धि है। अदृश्य होने की समता अन्तर्ध्यानऋद्धि है। एक साथ अनेक रूप बना लेने की शक्ति कामरूपित्व ऋद्धि है।

तपोऋद्धि सात प्रकार की है-उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप, घोरतप, वीरपराक्रमतप और घोब्रह्यचर्यतप। दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन, छह दिन, पन्द्रह दिन आदि के उपवास के योग्य में किसी भी उपवास की शुरुआत करके मरणपर्यन्त कठोरतापूर्वक उस पक्ष, मारसादि का उपवास करना उग्रतप है। महोपवास करने पर भी जिनका मन, वचन, काय

बल बढ़ता जाता है, जिनके मुख में दुर्गन्ध नहीं आती अपितु, कमलादि के समान सुगन्धित श्वास चलती है और जिनके शरीर की दीप्ति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है वे दीप्ततपऋद्धि धारक कहे जाते हैं। तप्त लोहे की कढ़ाई में गिरे हुए जल कण के समान शीघ्र ही आहार के शुष्क हो जाने से भुक्त आहार मलरुधिरादि स्वरूप को प्राप्त नहीं होता है, वे तप्ततपऋद्धि धारक होते हैं। सिंहनिष्क्रीडित आदि महातपों को करने की परायणता महातम ऋद्धि है। वात, पित्त, कफ आदि के सन्निपात से समुद्भूत ज्वर, खांसी, दमा, अक्षिशूल, कुष्ठ, प्रमेहादि विविध रोगों के देहके सन्तापित होने पर भी जो अनशन कायकवलेशादि तपों से विमुख नहीं होते और भयंकर श्मशान, पर्वत की छोटी, गुफा, कन्दरा और शून्य ग्रामादि रथान जो अत्यन्त दुष्ट यक्ष, राक्षस-पिशाच प्रभृति वैताल रूप से विकृत हैं, जहाँ श्रृगालों के कठोर शब्द व्याप हैं तथा जो व्याघ्र, सर्प, मृगों की भीषण ध्वनि से भयंकर है, चोरादि से व्याप हैं, ऐसे स्थानों में रहने के अभ्यासी घोरतपऋद्धि के धारक हैं, जो गृहीत तप और योग को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं वे घोर पराक्रम तप ऋद्धि के धारक हैं। जो अस्खलित अखंड ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं और प्रकृष्ट चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने के कारण जिन्हें दुःखज्ञ तक नहीं आते हैं, वे घोर ब्रह्मचर्य तप ऋद्धि के धारक कहलाते हैं।

मन, वचन और काय के भेद से बलऋद्धि तीन प्रकार की है। मन श्रुतावरण और वीर्यान्तराय कर्म का प्रकृष्ट क्षयोपशम होने से अन्तर्मुहूर्त में सकल श्रुतार्थ के चिन्तन में निष्णात मनोबली है। मन और रसना, श्रुतावरण तथा वीर्यान्तरायकर्म के प्रकृष्ट क्षयोपशम होने से अन्तर्मुहूर्त में सकल श्रुतार्थ के चिन्तन में निष्णात मनोबली है और रसना श्रुतावरण तथा वीर्यान्तरायकर्म के प्रकृष्ट क्षयोपशय होने से अन्तर्मुहूर्त में सकलश्रुत के उच्चारण करने में जो समर्थ हैं तथा सतत उच्चारण करने पर भी जिन्हें थकावट नहीं होती, जिनके कण्ठ अवरुद्ध नहीं होते, वे वचनबल ऋद्धि के धारक हैं। जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न असाधारण कायशक्तित्व के कारण मासिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिकादि, प्रतिमा योग के धारण करने पर भी थकावट

और कलान्ति का अनुभव नहीं करते हैं वे कायबलऋद्धि धारक मुनि हैं।

सभी असाध्य रोगों की निवृत्ति (दूर करने) में कारणभूत आर्मश, क्षेल, जल, मल, विट, सर्वोषधि प्राप्तास्याविष और दृष्टिविष के विकल्प से औषधऋद्धि आठ प्रकार की है। आर्मश और स्पर्श एकार्थवाची हैं। जिनके हाथ-पैर आदि के स्पर्शन ये भयंकर व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं, वे आमशर्वोषधि ऋद्धि प्राप्त कहे जाते हैं। क्षेल का अर्थ थूक है। जिनका थूक औषधि रूप हो गया है या जिनके थूक से अनेक व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं वे मुनि क्षेलोषधऋद्धि के धारक कहे जाते हैं। पर्सीने के कारण रज समूह चिपक जाता है उसे जल कहते हैं, जिनके जल के स्पर्श मात्र से रोग दूर हो जाते हैं वे जलौषधि ऋद्धि प्राप्त मुनि हैं। कर्ण, दाँत, नासिका, अक्षि आदि से उत्पन्न मल जिनके तप से औषधि को प्राप्त हो गया हो वे मलौषधि ऋद्धि के धारक हैं। जिनके टट्टी-पेशाब ही औषधि को प्राप्त हो गये हैं अर्थात् जिनके मल के स्पर्श मात्र से रोग शान्त हो जाते हैं वे विडौषधि ऋद्धि के धारक मुनि हैं। जिनके अंग-उपांग, नख, दांत, केशादि सर्व शरीर के अवयवों को स्पर्श करने वाले वायु आदि पदार्थ सर्व रोगों का नाश करने में समर्थ हैं, वे मुनि सर्व-औषधि ऋद्धि प्राप्त कहे जाते हैं। उग्र विषमिश्रित आहार भी जिनके मुख में जाकर निर्विष हो जाता है वे मुनि आस्यार्विष ऋद्धि के धारक हैं। जिनके अवलोकन मात्र से ही तीव्र विष दूर हो जाता है वे दृष्टिविष ऋद्धि के धारक मुनि हैं।

रसद्धि प्राप्त-आर्य छह प्रकार के हैं- आस्यार्विष, दृष्टिविष, क्षीरास्त्रवी, मध्वास्त्रवी, सपिरास्त्रवी और अमृतास्त्रवी। प्रकृष्ट तपस्वी यति जिसे यह कह देते हैं कि, मर जाओ तो वह तत्क्षण मर जाता है वा महाविष परिणत हो जाता है वे आस्यार्विष ऋद्धिधारक मुनि हैं। उत्कृष्ट तपस्वी मुनि क्रोधित होकर जिसको देखते हैं, वह उसी समय उग्र विष से व्याप होकर मर जाता है, वे दृष्टिविष ऋद्धिधारक मुनि हैं। जिनके हाथ में पड़ते ही नीरस भी अन्न क्षीर के समान सुस्वादु हो जाता है, वा जिनके वचन क्षीर के समान सब श्रोताओं को तृप्त करते हैं, वे क्षीरसावी नाम के ऋद्धिधारी होते हैं। जिनके

हाथ पर रखा हुआ नीरस आहार मधु के रस के समान स्वादिष्ट होता है एवं पुष्टि करता है अथवा जिनके मनोहर वचन दुःखी श्रोताओं को मधु के समान पुष्ट करते हैं वे मध्वासावी नाम के ऋद्धिधारी कहे जाते हैं। जिन मुनियों के हाथ में रखा हुआ रुखा अन्न-धी की तरह पुष्टिकारक और रिन्ग्ध हो जाता है - अथवा जिनके वचन धी के समान सन्तर्पक होते हैं वे सर्पिरासवी नाम के ऋद्धिधारक कहलाते हैं तथा जिनके पाणिपुट (हाथ) में रखा हुआ भोजन कुछ अमृत सरीखा हो जाता है अथवा जिनके वचन अमृत के समान जीवों के अनुग्राहक होते हैं वे अमृतासवी ऋद्धिधारी कहलाते हैं।

क्षेत्र ऋद्धि प्राप्त आर्य दो प्रकार के हैं- एक अक्षीण महानस और दूसरे अक्षीण महालय। प्रकृष्ट लाभान्तराय के क्षयोपशम वाले यतीश्वरों को जिस भाजन से आहार दिया जाता है उस भाजन से यदि चक्रवर्ती का पूरा कटक भी जीम जाय तो उस दिन वह भोजन सामग्री कम नहीं पड़ती, वह भोजन सामग्री अक्षय बन जाती है। इस प्रकार की सामर्थ्य के धारक मुनिगण अक्षीणमहानस ऋद्धि के धारक कहे जाते हैं। अक्षीण महालय ऋद्धि प्राप्त यतीश्वर जहाँ बैठते हैं वा वास करते हैं, उस स्थान में इतनी अवगाहन शक्ति हो जाती है कि, वहाँ सभी देव, मनुष्य और तिर्यच परस्पर किसी को बाधा नहीं देते हुए निराबाध रूप में बैठ सकते हैं, ऋद्धि प्राप्त आर्य हैं। पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है-

आर्या म्लेच्छाश्च (36)। सर्वार्थ सिद्धि, (पृ. 167)
गुणैर्गुणवदभिर्वा अर्यन्त इत्यार्या:। ते द्विविधा ऋद्धि प्राप्तार्या अनृद्धि
प्राप्तार्याश्चेति। अनृद्धि प्राप्तार्या: पञ्च विधाः क्षेत्रार्या जात्यार्याः
कर्मार्यश्चारीत्रार्या दर्शनार्याश्चेति। ऋद्धि प्राप्तार्या: सप्त विधाः, बुद्धि विक्रिया
तपोबलौषधरसाक्षीण भेदात्। म्लेच्छा द्विविधाः-अन्तर्द्वीपजाः
कर्मभूमिजाश्चेति

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं-आर्य और म्लेच्छ।

जो गुणों या गुणोंवालों के द्वारा माने जाते हैं-वे आर्य कहलाते हैं।

उनके दो भेद हैं, ऋद्धिप्राप्त आर्य और ऋद्धिरहित आर्य। ऋद्धिरहित आर्य पाँच प्रकार के हैं-क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य। बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और अक्षीण ऋद्धि के भेद से ऋद्धि प्राप्त आर्य सात प्रकार के हैं। म्लेच्छ दो प्रकार के हैं-अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ और कर्मभूमिज म्लेच्छ।

लवण समुद्र के भीतर आठों दिशाओं में आठ अन्तर्द्वीप हैं और उनके अन्तराल में आठ अन्तर्द्वीप और हैं तथा हिमवान और शिखरी इन दोनों पर्वतों के अन्त में और दोनों विजयार्द्ध पर्वतों के अन्त में आठ अन्तर्द्वीप हैं। इनमें से जो दिशाओं में द्वीप हैं वे वेदिका से तिरछे पाँच सौ योजन भीतर जाकर हैं। विदिशाओं और अन्तरालों में जो द्वीप हैं वे पाँच सौ पचास योजन भीतर जाकर हैं तथा पर्वतों के अन्त जो द्वीप हैं वे छ सौ योजन भीतर जाकर हैं दिशाओं में स्थित द्वीपों का विस्तार सौ योजन हैं। विदिशाओं और अन्तरालों में स्थित द्वीपों का विस्तार उससे आधा अर्थात् पचास योजन हैं। तथा पर्वतों के अन्त में स्थित द्वीपों का विस्तार पचीस योजन है। पूर्व दिशा में एक टाँग वाले मनुष्य हैं। पश्चिम दिशा में पूँछ वाले मनुष्य हैं। उत्तर दिशा में गूँगे मनुष्य हैं और दक्षिण दिशा में सींग वाले मनुष्य हैं। चारों विदिशाओं में क्रम से खरगोश के समान कान वाले, शष्कुली अर्थात् मछली अथवा पूँडी के समान कान वाले, प्रावरण के समान कान वाले और लम्बे कान वाले मनुष्य हैं। आठों अन्तराल के द्वीपों में क्रम से घोड़े के समान मुख वाले, सिंह के समान मुख वाले, कुत्ते के समान मुख वाले, भैंसा के समान मुख वाले, सुअर के समान मुख वाले, व्याघ्र के समान मुख वाले, कौवा के समान मुख वाले और बन्दर के समान मुख वाले मनुष्य हैं। शिखरी पर्वत के दोनों कोणों की सीध में जो अन्तर्द्वीप है, उनमें मेघ के समान मुख वाले और काल के समान मुख वाले मनुष्य हैं। उत्तर विजयार्द्ध के दोनों कोणों की सीध में जो अन्तर्द्वीप है उनमें हाथी के समान मुख वाले और दर्पण के

समान मुख वाले मनुष्य हैं तथा दक्षिण विजयार्द्ध के दोनों कोणों की सीध में जो अन्तर्द्वीप हैं उनमें गाय के समान मुख वाले और मेदा के समान मुख वाले मनुष्य हैं। इनमें से एक टाँग वाले मनुष्य गुफाओं में निवास करते हैं और मिट्टी का आहार करते हैं तथा शेष मनुष्य फूलों और फलों का आहार करते हैं और पेड़ों पर रहते हैं। इन सब की आयु एक पल्य प्रमाण है। ये चौबीसों अन्तर्द्वीप जल की सतह से एक योजन ऊँचे हैं। इसी प्रकार कालोद समुद्र में भी जानना चाहिये। ये सब अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं। इनके अतिरिक्त जो शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक हैं वे सब कर्म भूमिज म्लेच्छ हैं।

श्री श्रुतसागर सूरी में भी तत्वार्थ वृत्ति में आर्य एवं अनार्य का वर्णन निम्न प्रकार से किया है - जो गुणों से सहित हो अथवा गुणवान लोग जिनकी सेवा करें उन्हें आर्य कहते हैं। जो निर्लज्जतापूर्वक चाहे जो कुछ बोलते हैं वे म्लेच्छ हैं। चकार परस्पर समुच्चय अर्थ में हैं। इसका अर्थ है कि आर्य म्लेच्छ दोनों ही मनुष्य कहलाते हैं। आर्यों के भेद हैं-ऋद्धि प्राप्त आर्य और ऋद्धि रहित आर्य। ऋद्धि प्राप्त आर्यों के ऋद्धियों के भेद से आठ भेद हैं। आठ ऋद्धियों के नाम हैं-बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और क्षेत्र।

बुद्धिऋद्धि प्राप्त आर्यों के अठारह भेद हैं। 1. अवधिज्ञानी, 2. मनःपर्यज्ञानी, 3. केवलज्ञानी, 4. बीजबुद्धि वाले, 5. कोषबुद्धि वाले, 6. सम्भिन्नश्रोत्री, 7. पदानुसारी, 8. दूर से स्पर्श करने में समर्थ, 9. दूर से रसास्वाद करने में समर्थ, 10. दूर से गन्ध ग्रहण करने में समर्थ, 11. दूर से सुनने में समर्थ, 12. दूर से देखने में समर्थ, 13. दस पूर्व के ज्ञाता, 14. चौदह पूर्व के ज्ञाता, 15. आठ महानिमित्तों के जानने वाले, 16. प्रत्येक बुद्ध, 18. वाद-विवाद करने वाले और 18. प्रज्ञाश्रमण।

प्रश्न-बीजबुद्धि किसे कहते हैं? उत्तर-एक बीजाक्षर से समस्त शास्त्र का ज्ञान हो जाने को बीजबुद्धि कहते हैं। प्रश्न-कोषबुद्धि किसे कहते हैं?

उत्तर-धान्यागर में संग्रहित विविध धान्याओं की तरह जिस बुद्धि में सुने हुए वर्ण आदि का बहुत काल तक विनाश नहीं होता है, वह कोषबुद्धि है।

क्रियाऋद्धि दो प्रकार की है-जंघादिचारणत्व और आकाशगामित्व। जंघादिचारणत्व के नौ भेद हैं- 1. जंघाचारणत्व-भूमि से चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करना। 2. श्रेणिचारणत्व-विद्याधरों की श्रेणी पर्यन्त आकाश में गमन करना। 3. अग्निशिखाचारणत्व-अग्नि की ज्वाला के ऊपर गमन करना। 4. जलचारणत्व-जल को बिना छुये जल पर गमन करना। 5. पत्रचारणत्व-पत्ते को बिना छुये पत्ते पर गमन करना। 6. फलचारणत्व-फल को बिना छुये फल पर गमन करना। 7. पुष्पचारणत्व-पुष्प को बिना छुये पुष्प पर गमन करना। 8. बीजचारणत्व-बीज को बिना छुये बीज पर गमन करना। 9. तन्तुचारणत्व-तन्तु के बिना छुये तन्तु पर गमन करना। इस प्रकार जंघाचारण आदि क्रियाऋद्धि के नव भेद हैं। पैरों के उत्क्षेपण और निक्षेपण (उठाना और रखना) के बिना आकाश में गमन करना, पर्यकासन से आकाश में गमन करना, ऊपर को स्थित होकर आकाश में गमन करना अथवा सामान्य रूप से बैठकर आकाश में गमन करना आकाशगामित्व है। इस प्रकार क्रियाऋद्धि दो प्रकार की है।

अणिमा आदि के भेद से विक्रिया ऋद्धि अनेक प्रकार की है। अणिमा-शरीर को सूक्ष्म बना लेना अथवा (कमलनाल) में भी प्रवेश करके चक्रवर्ती के परिवार की विभूति को बना लेना अणिमा है। महिमा-शरीर को बड़ा बना लेना महिमा है। लघिमा-शरीर को छोटा (हल्का) बना लेना लघिमा है। गरिमा-शरीर को भारी बना लेना गरिमा है। प्राप्ति-भूमि पर रहते हुये भी अंगुलि के अग्रभाग से मेरु, शिखर, चन्द्र, सूर्य आदि को स्पर्श करने की शक्ति का नाम प्राप्ति ऋद्धि है। प्राकाम्य-जल में भूमि की तरह चलना और भूमि पर जल की तरह गमन करना अथवा जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य, सैन्य आदि का बनाना प्राकाम्य है। ईशित्व-तीन लोक के प्रभुत्व को पाना ईशित्व है। वशित्व-सम्पूर्ण प्राणियों को वश में करने की शक्ति का नाम

वशित्व है। अप्रतिघात-पर्वत पर भी आकाश की तरह गमन करना अप्रतिघात है। कामरुपित्व-अनेक रूपों को बनाना, मूर्त और अमूर्त अनेक आकारों को बनाना कामरुपित्व है। अन्तर्धान-रूप को अदृष्ट बना लेना। इस द्रकार विक्रियाऋद्धि के अनेक भेद हैं।

तपऋद्धि के सात भेद हैं- 1. घोर तप, 2. महातप, 3. उग्रतप, 4. दीमतप, 5. तमतप, 6. घोर गुण ब्रह्मचरिता और 7. घोर पराक्रमता।
 1. घोरतप-सिंह, व्याघ्र, चीता, स्वापद, कुत्ता आदि दुष्ट प्राणियों से युक्त गिरिकन्दरा आदि स्थानों में और भयानक श्मशानों में बैठकर तीव्र आतप, शीत आदि की बाधा होने पर भी घोर उपसर्गों को सहना घोर तप है।
 2. महातप-पक्ष, मास, छह मास और एक वर्ष का उपवास करना महातप है। एक वर्ष के उपवास के उपरान्त पारणा होती है, यदि पारणा नहीं किया तो केवलज्ञान भी हो जाता है क्योंकि एक वर्ष से अधिक उपवास नहीं होता है। 3. उग्रतप-पञ्चमी को, अष्टमी को और चतुर्दशी को उपवास करना और दो या तीन बार आहार न मिलने पर तीन, चार अथवा पाँच उपवास करना उग्रतप है। 4. दीमतप-शरीर से बाहर सूर्यों जैसी कान्ति का निकलना दीमतप है। 5. तमतप-तपे हुए लोहपिण्ड पर गिरी हुई जल की बूंद की तरह आहार ग्रहण करते ही आहार का पता न लगना अर्थात् आहार का पच जाना तमतप है वा निहार नहीं होना भी तमतप है। 6. घोरगुणब्रह्मचरिता-सिंह, व्याघ्र आदि कूर प्राणियों से सेवित होना घोरगुणब्रह्मचरिता है। घोरपराक्रमता-जिन मुनियों को देखकर भूत, प्रेत, बैताल, राक्षस, शाकिनी आदि भयभीत हो जाते हैं वे घोरपराक्रम हैं।

बलऋद्धि के तीन भेद हैं-मनोबल, वचनबल और कायबल।
 1. मनोबल-अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण श्रुत को चिन्तन करने की सामर्थ्य का नाम मनोबल है। 2. वचनबल-अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण श्रुत का पाठ करने की शक्ति का नाम वचन बल है। 3. कायबल-एक मास, चार मास, छह मास और एक वर्ष तक भी कायोत्सर्ग करने की शक्ति होना अथवा अंगुली के

अग्रभाग से तीनों लोकों को उठाकर दूसरी जगह रखने की सामर्थ्य का होना कायबल है।

औषधऋद्धि-आठ प्रकार की है। जिन मुनियों की निम्न आठों बातों के द्वारा प्राणियों के रोग नष्ट हो जाते हैं, वे मुनि औषधऋद्धि के धारी होते हैं- 1. विट (मल) लेपन, 2. मल का एक देश को छूना, 3. अपक्व आहार का स्पर्श, 4. सम्पूर्ण अंगों के मल का स्पर्श, 5. निष्ठीवन का स्पर्श 6. दन्त, केश, नख, मूत्र आदि का स्पर्श, 7. कृपादृष्टि से अवलोकन और 8. कृपा से दाँतों का दिखाना।

रसऋद्धि के छह भेद हैं- 1. आस्याविष- किसी दृष्टिगत प्राणी को 'मर जाओ' ऐसा कहने पर उस प्राणी का तत्क्षण ही मरण हो जाये- इस प्रकार के सामर्थ्य का नाम आस्याविष अथवा वाग्विष है। 2. दृष्टिविष- किसी कुद्ध मुनि के द्वारा किसी भी प्राणी के देखे जाने पर उस प्राणी का उसी समय मरण हो जाय, इस प्रकार के सामर्थ्य का नाम दृष्टिविष है। 3. क्षीरसावी-नीरस भोजन भी जिन मुनियों के हाथ में आने पर क्षीर के समान स्वादयुक्त हो जाता है अथवा जिन के वचन क्षीर के समान संतोष देने वाले होते हैं वे क्षीरसावी कहलाते हैं। 4. मधुसावी- नीरस भोजन जिन मुनियों के हाथ में आने पर मधु के स्वाद को देने वाला हो जाता है और जिनके वचन श्रोताओं को मधु के समान मधुर लगते हैं वे मुनि मधुसावी हैं। 5. सर्पिरासावी- नीरस भोजन भी जिन के हाथ में आने पर धृत के समान स्वादयुक्त हो जाता है और जिनके वचन श्रोताओं को धृत के स्वाद जैसे लगते हैं वे मुनि सर्पिरासावी हैं। 6. अमृतासावी- जिनके हरतगत भोजन अमृत के समान हो जाता है और जिन के वचन अमृत जैसे लगते हैं वे मुनि अमृतासावी हैं। क्षेत्रऋद्धि के दो भेद हैं। अक्षीणमहानस ऋद्धि और अक्षीण आलय ऋद्धि। किसी मुनि के किसी घर में, भोजन करने पर उस घर में चक्रवर्ती के परिवार को भोजन कराने पर भी अन्न की कमी न होने के सामर्थ्य का नाम अक्षीणमहानसऋद्धि है। किसी मुनि को चार हाथ प्रमाण किसी मन्दिर से निवास करने पर उस

स्थान में समर्त देव, मनुष्य और तिर्यज्ञों को परस्पर ब्राधा रहित निवास करने की शक्ति का नाम अक्षीणालय ऋद्धि है। यह सब ऋद्धि प्राप्त आर्य कहलाते हैं।

ऋद्धिरहित आर्य- ऋद्धि रहिता आर्यस्तु पञ्चप्रकारा भवन्ति। के ते पञ्चप्रकाराः? सम्यक्त्वार्याः, चारित्रार्याः, कर्मार्याः, जात्यार्याः, क्षेत्रार्याश्चेति। तत्र सम्यक्त्वार्या व्रतरहिता इत्यर्थः। चारित्रार्याश्चरित्र प्रतिपालक यतयः। कर्मार्यस्त्रिप्रकाराः-सावद्यकर्मार्याः, अल्पसावद्यकर्मार्याः, असावद्यकर्मार्याश्चेति। तत्र सावद्यकर्मार्या व्रतरहिता: षट्प्रकाराः असिमसिकृष्णविद्याशिल्पवाणिज्यकर्मार्यभेदात्। तत्र असितरवारिवसुनन्दक धनुर्बाणछुरिकाकट्टारककुन्तपटिटशहलमुशलगदाभिन्डिमालालोहघनशक्ति चक्राद्या-युधचञ्चवः असिकर्मार्या उच्यन्ते। आयव्ययादिलेखनवित्ता मषिकर्मार्याः कथ्यन्ते। हलेन भूमिकर्षणानिपुणाः कृषिकर्मार्या भव्यन्ते। गणितादिद्वासमतिकलाप्रवीणा विद्यकर्मार्या उद्यन्ते। निर्णजकदिवाकीर्त्यादियः शिल्पकर्मार्या ध्यन्यन्ते। धान्यक- (का) पर्सचन्दनसुवर्णरजतमणि माणिक्यघृतादिरसांशुकादिसंग्रहकारिणो। वाणिज्य कर्मावदाता वणिक् कर्मार्या शब्दन्ते एते षट्प्रकारा अपि सावद्यकर्मार्या भवन्ति। अल्पसावद्यकर्मार्यास्तु श्रावकप्रभृतयः। असावद्य कर्मार्यस्तु यतयः।

ऋद्धि रहित आर्यों के पाँच भेद हैं- 1. सम्यक्त्वार्य, 2. चारित्रार्य, 3. कर्मार्य, 4. जात्यार्य और 5. क्षेत्रार्य। व्रतरहित सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वार्य हैं। चरित्र को पालने वाले यति चारित्रार्य हैं। कर्मार्यों के तीन भेद हैं- सावद्यकर्मार्य, अल्पसावद्य कर्मार्य और असावद्यकर्मार्य। व्रतरहित सावद्य कर्मार्य के छः भेद हैं- असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य कर्मार्य। पशुधातक शस्त्र, तलवार, वसुनन्दक, धनुष, बाण, छुरी, कट्टारक, कुन्त, पटिटश, हलमुशल, गदा, भिण्डभाल व लोहे का घन शक्ति, चक्र आदि नाना प्रकार के आयुधों को चलाने में चतुर असिकर्मार्य हैं। आयव्यय आदि लिखने वाले अर्थात् मुनीम या कलर्क मसिकर्मार्य है। खेती करने वाले कृषिकर्मार्य हैं। गणित आदि बहत्तर

कलाओं में प्रवीण विद्याकर्मार्य हैं। निर्णजक, नाई आदि शिल्पकर्मार्य हैं। धान्य, कपास, चन्दन, सुवर्ण, चाँदी, मणि, माणिक्य, घृतादिरस वस्त्रादि पदार्थों के व्यापार को करने वाले वाणिज्य-कर्मार्य हैं। ये छहों सावद्यकर्मार्य हैं। श्रावक अल्प सावद्य कर्मार्य होते हैं और मुनि असावद्यकर्मार्य हैं।

जाति से आर्य:- जात्यार्यस्तु इक्ष्वाकुवंशाद्युद्भवाः। अरस्यामवसर्पिण्यामिक्ष्वाकुवंशः स्वयं श्री वृषभेश्वरः, तस्य कुले भवा इक्ष्वाकुवंशाः। भरतसुतार्ककीर्तिकुले सञ्जाताः सूर्यवंशाः। बाहुबलिसुतसोमयशोवंशे भवाः सोमवंशाः। सोमप्रभश्रेयांस्कुले समुत्पन्नाः कुरुवंशाः। अकम्पनमहाराजकुले समुभदवानाथवंशाः। हरिकान्तनृपान्वये सम्भूता हरिवंशाः। हरिवंशेऽपि यदुनृपकुलजाता यादवाः। काश्यपनृपकुले सम्भवा उग्रवंशा इति। एवंविधा जात्यार्याः कथ्यन्ते।

जाति से आर्य:- इक्ष्वाकु आदि वंश में उत्पन्न होने वाले जात्यार्य कहलाते हैं। इस अवसर्पिणीकाल में स्वयं वृषभनाथ भगवान् इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए थे। वृषभनाथ भगवान् के कुल में उत्पन्न होने वाले इक्ष्वाकु वंशी, भरत के पुत्र अर्ककीर्ति के कुल में उत्पन्न होने वाले सूर्यवंशी, बाहुबलि के पुत्र सोमयश के कुल में उत्पन्न होने वाले सोमवंशी, सोमप्रभ श्रेयांस के कुल में उत्पन्न होने वाले कुरुवंशी, अकम्पन महाराज के कुल में उत्पन्न होने वाले नाथवंशी, हरिकान्त राजा के कुल में उत्पन्न होने वाले हरिवंशी, यदु राजा के कुल में उत्पन्न होने वाले यादववंशी, काश्यपराजा के कुल में उत्पन्न होने वाले उग्रवंशी कहलाते हैं। इस प्रकार जाति आर्यों के भेद जानने चाहिए।

क्षेत्र से आर्य:- कौशल-काश्यवन्ति-अंग-वंग-तिलंग-कलिंग-लाट-कर्णाट-भोट- गोड-गुर्जर सौराष्ट्र-मरुवाजड़-मलय-मालव-कुङ्कणामीर-सौरमस- काश्मीर-जालंधरादिदेशोद्भवाः क्षेत्रार्या इत्युच्यन्ति।

क्षेत्र से आर्य- कौशल, काशी, अवन्ती, अंग, बंग (बंगाल), तिलंग, कलिंग, लाट, कर्णाटक, भोट, गोड, गुजरात, सौराष्ट्र, मारवाड, जड़बल,

मलय, मालव, कुंकण (कोंकण), आभीर, सौरमस, काश्मीर, जालन्धर आदि देश में उत्पन्न हुए मानव क्षेत्रार्थ कहलाते हैं।

स्थानांग सूत्र में वर्णित आर्य एवं अनार्य

चार तरह के पुरुषजात कथन किये गये हैं। जैसे- एक पुरुष क्षेत्र से भी आर्य है और पाप रहित होने भाव से भी आर्य है। एक पुरुष क्षेत्र से तो आर्य है किन्तु भाव से अनार्य हैं। एक पुरुष भाव से अनार्य है किन्तु क्षेत्र से आर्य है। एक पुरुष क्षेत्र एवं भाव दोनों से अनार्य है।

पुनः चार तरह के पुरुष जात कथन किये गये हैं जैसे- एक पुरुष आर्य है और भाव से आर्य भी है परिणत है इसी तरह आर्य रूप, आर्य मन, आर्य-संकल्प, आर्य-प्रज्ञ, आर्य-दृष्टि, आर्य-शीलाचार, आर्य-व्यवहार, आर्य-पराक्रम, आर्यवृत्ति, आर्य जाति, आर्य-भासी, आर्य-अवभासी, आर्य सेवी, इसी तरह आर्य पर्याय, आर्य परिवार इस सभी के चतुर्भुज जान लेना चाहिए। इस तरह 17 अलापक जैसे दीन शब्द के कहे गये हैं। वैसे ही आर्य शब्द के साथ भी जान लेने चाहिए। चार तरह के पुरुष जात कथन किये गये हैं, जैसे- एक पुरुष आर्य है भव से भी आर्यत्व रखता है। एक पुरुष आर्य है, किन्तु अनार्य भाव वाला है। एक पुरुष अनार्य है किन्तु आर्य भाव वाला है। एक पुरुष अनार्य है और भाव से भी अनार्यत्व रखने वाला है। जो सब प्रकार से अदीन हैं वे ही आर्य माने जाते हैं। अतः प्रस्तुत सूत्र में आर्य और अनार्य के विषय में प्रकाश डाला गया है। संसार में जितने भी प्राणी हैं उन में कुछ आर्य हैं शेष अनार्य है। अनंतानंत प्राणी अनार्य हैं उनकी अपेक्षा आर्य बहुत कम हैं। आर्य नौ प्रकार के होते हैं जिनका वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के पहले पद में विस्तृत रूप से प्राप्त होता है। यहाँ उनकी व्याख्या संक्षेप में दी जाती है। 1. जिनका जन्म आर्यवर्त में हुआ है वह क्षेत्रतः आर्य हैं। 2. आर्य जाति में उत्पन्न हुआ व्यक्ति जाति से आर्य है। 3. उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति कुल से आर्य माना जाता है। 4. जिसका व्यवसाय आर्यों जैसा है, उसे कर्म आर्य कहते हैं। 5. सौ प्रकार के शिल्प

से आजीविका करने वाला शिल्प आर्य है। 6. अर्द्धमागधी, संस्कृत, प्राकृत इत्यादि भाषाएँ आर्य भाषाएँ कहलाती हैं। 7. मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान से पाँच ज्ञान आर्य-ज्ञान कहलाते हैं। 8. सम्यक्दर्शन को आर्यदर्शन कहते हैं। 9. सामकि आदि पाँच प्रकार के चरित्र को आर्य चरित्र कहा जाता है। किसी कवि ने आठ गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को आर्य कहा है।

शान्तस्थितिक्षुर्दान्तिश्च सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
दाता दयालुर्नम्रश्च आर्यः रस्यादृष्टिर्गुणः ॥

अर्थात् जो शान्त, सहनशील, मनोजयी, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, दाता, दयालु और विनीत है वह आर्य कहलाता है। जो इन गुणों से विहीन है, वह अनार्य माना जाता है। आर्यत्व और अनार्यत्व को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने चतुर्भुगियों को निर्देश किया है। जैसे कि-

1. द्रव्य और भाव की दृष्टि से -

एक पुरुष द्रव्य से भी आर्य है और भाव से भी आर्य है। एक पुरुष द्रव्य से आर्य है किन्तु भाव से अनार्य है। एक पुरुष द्रव्य से तो अनार्य है और भाव से आर्य है। एक पुरुष द्रव्य से भी अनार्य है एवं भाव से भी अनार्य है। आर्य क्षेत्र, जाति, कुल, व्यवसाय, कर्म और शिल्प इनका समावेश द्रव्य आर्य में हो जाता है। जाति-विहीन, कुल विहीन अनार्य क्षेत्र में उत्पन्न, अनार्य व्यवसाय में लीन, अनार्य कर्म करने वाला एवं अनार्य शिल्प में रुचि रखने वाला व्यक्ति द्रव्य भाव से भी अनार्य माना जाता है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चरित्र का समावेश भाव आर्य में होता है। इससे विपरीत हिंसा आदि पाप क्रियाओं में अनुरक्त रहने वाला भाव अनार्य है।

2. द्रव्य और परिणमन की दृष्टि से -

एक पुरुष द्रव्य से आर्य है और आर्यत्व में ही परिणत हो जाता है। एक पुरुष आर्य द्रव्य से आर्य होता हुआ भी अनार्यत्व में परिणत हो रहा

है। एक पुरुष द्रव्य से अनार्य होता हुआ भी आर्यत्व में परिणत हो रहा है। एक पुरुष द्रव्य से अनार्य है और अनार्यत्व में ही परिणत हो रहा है।

3. द्रव्य और वेशभूषा की दृष्टि से -

एक पुरुष द्रव्य से आर्य है और वेशभूषा एवं रूप से आर्य रूप है। एक पुरुष द्रव्य से आर्य है, किन्तु अनार्य वेशभूषा की अपेक्षा से आर्य रूप है। एक पुरुष द्रव्य से भी अनार्य है और वेशभूषा की अपेक्षा से अनार्य रूप है।

4. द्रव्य और मानसिक की दृष्टि से -

एक पुरुष द्रव्य से आर्य है पुनः सात्त्विक मन होने से आर्य मना है। एक पुरुष द्रव्य से आर्य है, किन्तु तमोगुणी होने से अनार्यमना है। एक पुरुष द्रव्य की अपेक्षा अनार्य है, किन्तु सात्त्विक मन होने से आर्यमना है। एक पुरुष द्रव्य से भी अनार्य है और तमोगुणी होने से अनार्यमना भी है।

5. द्रव्य और संकल्प की दृष्टि से -

एक पुरुष द्रव्य से आर्य है और शुभ संकल्प होने से आर्य संकल्प वाला है। एक पुरुष द्रव्य से आर्य पुरुष है किन्तु अशुभ विचारों के कारण अनार्य संकल्पी है। एक पुरुष द्रव्य से अनार्य है किन्तु शुभ विचारों के कारण आर्य संकल्पी है। एक पुरुष द्रव्य से अनार्य है, परन्तु अशुद्ध विचारों के कारण अनार्य संकल्पी है।

6. द्रव्य और प्रज्ञा की दृष्टि से -

एक द्रव्य से भी आर्य है और सूक्ष्म अर्थ-ग्रहिणी तथा गुण-ग्रहिणी बुद्धि से भी आर्य प्रज्ञ है।

एक पुरुष द्रव्य से तो आर्य है, किन्तु अवगुण-ग्रहिणी बुद्धि से अनार्य प्रज्ञ है। एक पुरुष द्रव्य से अनार्य है, किन्तु बुद्धि की श्रेष्ठता से आर्य प्रज्ञ है। एक पुरुष द्रव्य से भी अनार्य है और दुर्गुण-ग्रहिणी बुद्धि होने से अनार्य है।

प्रज्ञ है।

7. द्रव्य और दर्शन की दृष्टि से -

एक पुरुष द्रव्य से तो आर्य है और सम्यग्दर्शन सम्पन्न होने से आर्य दृष्टि भी है। एक पुरुष द्रव्य से तो आर्य है किन्तु मिथ्यादर्शन के कारण अनार्य दृष्टि है। एक पुरुष द्रव्य से भी अनार्य है विन्तु सम्यक्त्व से आर्य दृष्टि है। एक द्रव्य अनार्य सम्यक्त के अभाव होने के कारण अनार्य दृष्टि भी है।

8. द्रव्य और शीलाचार की दृष्टि से -

एक व्यक्ति द्रव्य से रवयं आर्य है, और शीलाचार की दृष्टि से भी आर्य है। एक व्यक्ति द्रव्य से तो आर्य है किन्तु सम्यक्चरित्र न होने से शीलाचार के अभाव के कारण अनार्य है। एक व्यक्ति द्रव्य से अनार्य होता हुआ भी शुद्ध शीलाचार होने के कारण आर्य है। एक व्यक्ति द्रव्य से भी अनार्य है और अपवित्र एवं भ्रष्ट आचार (दुराचार) होने से भी अनार्य है।

(9) द्रव्य और व्यवहार की दृष्टि से :

एक पुरुष द्रव्य से आर्य है और उसका लेन-देन एवं व्यवहार भी आर्य है। एक पुरुष द्रव्य से आर्य है, किन्तु अनुदार एवं अनार्यों जैसा दुर्व्यवहार करने से वह व्यवहार अनार्य है।

एक पुरुष यद्यपि द्रव्य से अनार्य है किन्तु आर्यों जैसे व्यवहार करने से वह व्यवहार आर्य है। एक पुरुष रवयं भी अनार्य है और उसका लेन-देन अर्थात् व्यवहार भी अनार्य है।

10. द्रव्य और पराक्रम की दृष्टि से:

जिसके पराक्रम का रव तथा पर कल्याण से उपयोग होता है वह आर्य पराक्रम कहलाता है। जिसका पराक्रम हिंसा आदि पाप क्रियाओं में प्रवृत्त होता है वह अनार्य पराक्रम कहलाता है।

(11) आर्य प्रवृत्ति और अनार्यवृत्ति इन पदों का यह अर्थ कि, जो हिंसादि पाप क्रिया के बिना अहिंसक व्यापार से आजीविका की जाती है, वह आर्यवृत्ति कहलाती है और जो हिंसक व्यापार से आजीविका की जाती है वह अनार्यवृत्ति कहलाती है।

(12) आर्ययाची अनार्ययाची का अर्थ है- जो न्याय नीति से किसी वरस्तु की याचना करता है, वह आर्ययाची है और जो अन्याय, अनीतिपूर्वक बलात् किसी से वरस्तु की याचना करता है वह अनार्ययाची कहलाता है।

(13) आर्यभाषी और अनार्यभाषी का अर्थ है- जो बातचीत में या प्रवचन में आर्यभाषा का प्रयोग करता है वह आर्यभाषी है और जो अनार्यभाषा का प्रयोग करता है वह अनार्यभाषी कहलाता है अथवा सत्य और व्यवहारिक भाषा बोलने वाला आर्यभाषी और असत्य और मिश्र भाषा बोलने वाला अनार्य भाषी कहलाता है।

(14) आर्य-अवभाषी और अनार्य अवभाषी का अर्थ है जो पुरुष आर्य होता हुआ भी जनता को आर्य ही प्रतीत होता है, वह आर्य अवभाषी है और जो अनार्य होता हुआ लोगों को अनार्य जैसा प्रतीत होता है, वह अनार्य अवभाषी होता है अथवा 'अवभाष' का अर्थ चमकना भी होता है अर्थात् प्रसिद्ध होना, श्रेष्ठ गुणों से प्रसिद्ध होना, आर्यविभाष है और अवगुणों से प्रसिद्ध होना अनार्यविभाष माना जाता है।

(15) आर्यसेवी और अनार्यसेवी इन पदों का अर्थ है जो श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा करता है, वह आर्य सेवी और जो अधम पुरुषों की सेवा करता है वह अनार्य सेवी कहलाता है।

(16) आर्य परिवार और अनार्य परिवार का अर्थ है जिस गृहरथ या साधु का परिवार श्रेष्ठ है वह आर्य परिवार है और जिसका परिवार मयोदा एवं चरित्रहीन है वह अनार्य परिवार कहलाता है।

(17) आर्य-पर्याय और अनार्य-पर्याय का अर्थ है, जो गृहरथ या

साधु धर्मनिष्ठ एवं निर्दोष रहा है वह आर्य पर्याय और जिसका जीवन हिंसा, चोरी, दुराचार, आदि पापों में व्यतीत हुआ है, वह अनार्य पर्याय कहलाता है। इन पदों का सम्बन्ध आर्य और अनार्य शब्दों के साथ जोड़ने से प्रत्येक की चतुर्भंगी बन जाती है। एक पुरुष एक द्रव्य से भी आर्य है और मंगलमय जीवन होने से भाव से भी आर्य है। एक पुरुष द्रव्य से तो आर्य है और भाव से अनार्य है। एक पुरुष द्रव्य से तो अनार्य है, किन्तु शुद्धचित्त होने के कारण भाव से आर्य है। एक पुरुष भाव से भी अनार्य है और अमंगलचारी होने के कारण भाव से भी अनार्य है।

इस प्रकार आर्य, आर्य परिणत, आर्यरूप, आर्यमन, आर्यसंकल्प, आर्यप्रज्ञ, आर्यदृष्टि, आर्यशीलाचार, आर्य व्यवहार, आर्य पराक्रम, आर्यवृत्ति, आर्य जाति, आर्यभाषी, आर्य अवभाषी, आर्य सेवी, आर्य दीक्षा, आर्य परिवार, आर्य भाव, इन सबके चार-चार भंग कथन किये गये हैं। इन चतुर्भंगियों के देखने से यह भलीभौंती सिद्ध हो जाता है कि, प्रत्येक पदार्थ की सिद्धि अनेकान्तवाद या स्यादवाद से ही हो सकती है। कोई भी विचारक जब किसी वरस्तु का निर्णय अनेक दृष्टिकोणों से करता है तब उसके सभी दृष्टिकोणों को अनेकान्तवाद कहते हैं। जैन सिद्धान्त का मूल आधार अनेकान्तवाद ही है।

अनेकान्तवाद के अनुरूप व्यवहार करने से कभी भी अन्याय होने की सम्भावना नहीं रह जाती, मानवता का सम्यक् विश्लेषण भी हो जाता है और साथ ही मनुष्य की चिन्तन शक्ति का भी विकास होता है। अतः इन चतुर्भंगियों का महत्त्व विविध दृष्टियों से रवीकार करना पड़ता है।

क्षेत्रानुसार-परिस्थिति

जम्बूद्वीपे दीपे भरहेरवएसु वासेसु तीताए उस्सप्तिणीए सुसमदुसमाए समाए दो सागरोवम कोडाकोडीओ काले होतथा। एवमिमीसे ओसप्तिणीए जाव पण्णते। एवं आगमिस्साए उस्सप्तिणीए जाव भविस्सइ। जंबूद्वीपे दीपे भरहेरवएसु वासेसु तीताए उस्सप्तिणीए सुसमाए मण्या दो गाउयाइंउड्हुं

उच्चतेण होतथा। दोन्हि य पलिओवमाइं परमाउ पालइत्था। एवमिमी से ओसप्पिणीए जाव पालइत्था। एवमागमेरसाते उस्सप्पिणीए जाव पालइस्संति।

जंबूद्धीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु एगजुगे दो अरिहंतवंसा उप्पज्जिंसु वा, उप्पञ्जंति वा, उप्पज्जिस्संति वा, एवं चक्रवट्टिवंसा। दसारवंसा। जंबू० भरहेरवएसु एगसमए दो अरहंता उप्पज्जिंसु वा, उप्पञ्जति वा, उप्पज्जिस्संति वा। एवं चक्रवट्टिणो। एवं बलदेवा एवं वासुदेवा(दसारवंसा) जाव उप्पज्जिंसु वा उप्पञ्जंति वा, उप्पज्जिस्संति वा। जंबूद्धीवे, दीवे दोसु कुरासु मणुआ सया सुसमसुसममुत्तमिङ्गि पत्ता पच्छणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा-देवकुराए चेव, उत्तरकुराए चेव। जंबूद्धीवे दीवे दोसु वासेसुमण्या सया सुसममुत्तमिङ्गि पत्ता पच्छणुब्भवमाणा विहरंति तं जहा-हरिवासे चेव, रमगवाले चेव।

जंबूद्धीवे दीवे दोसु वासेसु मण्या सुसमदुसममुत्तमिङ्गि पत्ता पच्छणुब्भवणामा विहरंति, तं जहा- हेमवए चेव एरण्णवए चेव।

जंबूद्धीवे दीवे दोसु खिकेसु मण्या सया दुसमसुसममुत्तमिङ्गि पत्ता पच्छणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा- पुव्व-विदेहे चेव, अवरविदेहे चेव। जंबूद्धीवे दीवे दोसु वासेसु मण्या छविहंपि कालं पच्छणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा-भरहे चेव, एखते चेव। (स्थानाङ्ग-सूत्र भाग १, पृ.250)

जंबूद्धीप के भरत और ऐरावत क्षेत्रों में भूतकाल में उत्सर्पिणी काल का सुषम - दुष्म नामक आरा दो सागरोपम कोटाकोटी परिमाण का था।

इसी प्रकार इस वर्तमान अवसर्पिणी काल का सुषम-दुष्म नामक आरा दो सागरोपम कोटाकोटी परिमाण वाला है। इसी तरह आगामी उत्सर्पिणी का भी होगा।

जम्बूद्धीप के भरत और ऐरावत क्षेत्रों में भूतकाल के अवसर्पिणी काल के सुषम-काल में मनुष्य दो गत्यूति परिमाण में ऊँचे थे और उन्होंने दो पल्योपम की परम आयु प्राप्ति की थी। इसी तरह इस अवसर्पिणी काल में भी मनुष्यों ने दो पल्योपम की आयु पाई है और आगामी काल में भी इसी

प्रकार आयु प्राप्त करेंगे।

जम्बूद्धीप के भरत और ऐरावत क्षेत्रों में एक समय में तथा एक युग में दो अरिहन्त-वंश पैदा हुए, पैदा होते हैं और भविष्य में भी पैदा होंगे। इसी प्रकार चक्रवर्ती और दसार-वंश भी जानने चाहिए।

जम्बूद्धीप के भरत और ऐरावत क्षेत्रों में एक समय में दो अरिहंत उत्पन्न हुए, उत्पन्न होते हैं और भविष्य में भी उत्पन्न होंगे। इसी तरह चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव के विषय में भी जानना चाहिए।

जम्बूद्धीप के दो कुराओं में मनुष्य सदा काल सुषम-सुषम आरक की ऋद्धि प्राप्त करके उसका उपयोग करते हुए विचरते हैं, जैसे-देवकुरु और उत्तरकुरु। जम्बूद्धीप के हरिवर्ष और रम्यकर्वर्ष इन दो क्षेत्रों में मनुष्य सदा सुषम-आरक की उत्तम ऋद्धि को प्राप्त कर उसका उपयोग करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं।

जम्बूद्धीप के हैमवत और हैरण्णवत नामक दो वर्षा (क्षेत्रों) में मनुष्य सदैव काल सुषम-सुषम आरक की समृद्धि को प्राप्त कर उसका उपयोग करते हुए विचरते हैं।

जम्बूद्धीप के पूर्व महाविदेह और पश्चिम महाविदेह इन दो क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्य सदैव सुषम-सुषम काल की उत्तम महार्द्धि को प्राप्त कर उसका उपभोग करते हुये विचरण करते हैं।

जम्बूद्धीप के भरत और ऐरावत नामक दो क्षेत्रों में उत्पन्न हुए मनुष्य सदा छहों ही कालों का अनुभव करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं।

अनार्य (म्लेच्छा)

तथान्तर्द्धिपजा म्लेच्छा: परे स्युः कर्मभूमिजाः।
आद्याः षण्णवतिः ख्याता वार्धिद्वयतटद्वयोः।(6)

भा. 5 (पृ. 374) त. श्लो. वा,

तथा अन्तर्दीपों में उत्पन्न हुए म्लेच्छ हैं और उनसे न्यारे कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए तिस प्रकार के दूसरे म्लेच्छ मनुष्य हैं। आदि में कहे गये अंतर्दीपवासी म्लेच्छ तो लवण, कालोदधि, दोनों समुद्रों के भीतरले, बाहरले, उभय तटों पर बने हुए छियानवे अंतर्दीपों में निवास कर रहे बखाने गये हैं।

**म्लेच्छा द्विविधा: अंतर्दीपजा: कर्मभूमिजाश्च ।
तत्राद्यास्तावलवणोदस्योभयोरष्टचत्वारिंशत् तथा कालोदस्य इति षण्णवतिः ।**

म्लेच्छ दो प्रकार के हैं। एक अंतर्दीपों में उत्पन्न हुये और दूसरे कर्मभूमियों में उत्पन्न हुये म्लेच्छ हैं। उन दोनों भेदों में आदि में कहे गये मनुष्य तो लवण समुद्र के दोनों तटों पर अड़तालीस द्वीप और तिस प्रकार कालोदधि समुद्र के दोनों तटों पर जल में उभर रहे अड़तालीस द्वीप यों छियानवैं द्वीपों में निवास कर रहे हैं। एक एक द्वीप में लाखों म्लेच्छ निवास करते हैं। भावार्थ-जम्बूद्वीप की वेदी से तिरछा चलकर आठ दिशा, विदिशाओं में लवण समुद्र में भीतर आठ अन्तर्दीप हैं और उनके बीच-बीच में आठ न्यारे द्वीप हैं एवं हिमवान पर्वत के दोनों और शिखरी पर्वत के दोनों ओर दो विजयार्धों के दोनों ओर, यों आठ द्वीप अन्य भी हैं। लवण समुद्र के बाहरले पसवाड़े में भी इसी प्रकार चौबीस द्वीप बन रहे हैं। दिशाओं में बने हुये द्वीप तो रत्नवेदिका से तिरछे पांच सौ योजन समुद्र में जाकर सौ योजन विस्तार वाले हैं तथा विदिशा और अंतरालों में बने हुये द्वीप तो जंबूद्वीप की वेदी से तिरछा साढ़े पांच सौ योजन जाने पर पचास योजन विस्तार वाले हैं। पर्वतों के अंत में जो द्वीप माने गये हैं वे छह सौ योजन समुद्र में उरलीपार और परलीपार से घुसकर पचीस योजन विस्तार वाले निर्मित हैं। इसी प्रकार कालोदधि समुद्र में भी अड़तालीस द्वीप बने हुये हैं। अन्तर इतना ही है कि, धातकी खण्ड के हिमवान् पर्वत और उसके निकटवर्ती विजयार्ध दोनों की रेखाओं के अनुसार कालोदधि में एक अंतरदीप है। इसी ही रेखानुसार परली ओर एक द्वीप है यही दशा शिखरी पर्वत और उसके विजयार्ध के संबंध में लगा

लेना चाहिए। इन अंतर द्वीपों में पूँछवाले, सींगवाले, गूँगे आदि कई विकृत आकृतियों को धार रहे म्लेच्छ मनुष्य निवास करते हैं। यह द्वीप जल तल से एक योजन ऊंचे उठे हुये हैं। इन द्वीपों को कुभोगभूमि में भी कह दिया जाता है।

**ते च केचिद्गोगभूमिसमप्रणिधयः परे कर्मभूमिसमप्रणिधयः श्रूयमाणाः
कीदृग्यायुरुत्सेधवृत्तय इत्याचष्टे ।**

पृ.(376)।

तथा वे म्लेच्छ कोई कोई तो द्वीपवर्तिनी भोगभूमियों की समान रेखा अनुसार निकटवर्ती हो रहे हैं और कोई दूसरे अंतर्दीपवासी म्लेच्छ जो कि, कर्मभूमियों के निकट सम कोटी पर बने हुये अंतर्दीपों में निवास कर रहे सुने जा रहे हैं। किसी का प्रश्न है कि, भला उनकी आयु या शरीर की ऊँचाई तथा प्रवृत्तियाँ किस प्रकार की हैं? ऐसी प्रतिपित्सा होने पर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचन का व्याख्यान करते हैं।

**भोगभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयोर्भोगभूमिभिः ।
समप्रणिधयःकर्मभूमिवत्कर्मभूमिभिः ।(7)।**

भोगभूमियों की सम रेखा पर निकटवर्ती बन रहे अंतर्दीपों में निवास करने वाले म्लेच्छ भी तो भोग भूमि वाले जीवों के समान आयुष्य, ऊँचाई और प्रवृत्ति को धार रहे हैं तथा कर्मभूमियों की निकटवर्तिनी सम रेखा पर लवण समुद्र या कालोदधि में बने हुये अंतर्दीपों में निवास कर रहे म्लेच्छों की आयु या शरीर की ऊँचाई या भोजनादि की प्रवृत्तियाँ कर्मभूमि वाले जीवों की आयु ऊँचाई ओर प्रवृत्तियों के समान हैं किन्तु कर्मभूमि के समान उन म्लेच्छों में देशब्रत या महाब्रत नहीं पाये जाते हैं।

**भोगभूमिभिः समानप्रणिधयोर्तंदीपजा म्लेच्छा
भोगभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयः प्रतिपत्तव्याः, कर्मभूमिभिः समप्रणिधयः**

कर्मभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयस्तथा निमित्त सदावात् ।

भोगभूमियों की समान निकटता वाले अंतर्द्वीपों में उपजे हुये म्लेच्छ तो उन भोगभूमियों के जीवों की आयु, ऊँचाई, प्रवृत्ति के समान आयुष्य उच्चता, प्रवृत्तियों को धार रहे समझ लेना चाहिए और कर्मभूमियों की समप्रणिधि वाले म्लेच्छ तो उस कर्मभूमि में नियत हो रही आयु, ऊँचाई, प्रवृत्तियों के अनुसार आयु; शरीरोत्सेध और प्रवृत्तियों को धार रहे हैं क्योंकि तिस प्रकार के निमित्त कारणों का सद्व्याव है। कारण के बिना किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं हो पाती है। जैसे पुण्य, पाप, उन भोगभूमि या कर्मभूमि में जन्म ले चुके मनुष्यों के हैं। उस ही प्रकार के कुछ न्यूनाधिक पुण्य, पाप, उन भोगभूमियों के निकटवर्ती अन्तरद्वीपों के निवासी म्लेच्छ मनुष्यों में भी पाये जाते हैं। जैसा कारण होगा वैसा कार्य बन जायेगा यह निर्णीत सिद्धान्त है।

अथ के कर्मभूमिजा म्लेच्छा इत्याह ।

अब इसके अनन्तर कोई प्रश्न पूछता है कि दोनों प्रकार के आर्यों को मैं समझ चुका हूँ, दो प्रकार के म्लेच्छों में कोई अन्तर द्वीप के म्लेच्छों की प्रतिपत्ति भी की जा चुकी है। अब महाराज, यह बतलाइये कि दूसरे प्रकार के कर्मभूमियों में उत्पन्न हुये म्लेच्छ भला कौन हैं? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धाः यवनादयः ।
स्युः परे च तदाचारपालनाद्विधा जनाः ॥(8)॥

और वे दूसरे कर्मभूमियों में उत्पन्न हुये म्लेच्छ तो यवन, शबर, पुलिन्द, किरात, वर्खर, आदिक प्रसिद्ध ही है, जो कि बहुत प्रकार के चाणडाल आदि मनुष्य जन्म म्लेच्छों के आचार को पालने से म्लेच्छ ही समझे जाते हैं। अर्थात्- जिन जातियों में मद्य, मांस आदि कुकर्मों से घृणा नहीं है, धर्म, अधर्म या भक्ष्य, अभक्ष्य का विवेक नहीं है वर्णश्रम व्यवस्था नहीं है, धर्म को व्रत समझ कर नहीं पालते हैं उन जातियों के मनुष्य भले ही क्षेत्र आर्य

क्यों न हों, म्लेच्छों में ही परिणित किये जाते हैं।

अन्तर्द्वीपज अनार्य

मर्त्यारस्त्वेकोरुकाः पूर्वे दक्षिणे तु विषाणिः ।
लाङ्गूलिनोऽपरे च र्युरुतरेऽभाषकास्तथा ॥(471)॥

ह.पु.पृ.102

लवण समुद्र की पूर्व दिशा में एक टाँग वाले, दक्षिण में सींग वाले, पश्चिम में पूँछवाले और उत्तर में गूँगे मनुष्य रहते हैं।

विदिक्षु शशकर्णास्तु चतसृष्वपि भाषिताः ।
एकोरुकोत्तरापाच्योरश्वसिंहमुखाः क्रमात् ॥(427)॥

चारों विदिशाओं में खरगोश के समान कान वाले मनुष्य कहे गए हैं। एक टाँगवालों की उत्तर और दक्षिण दिशा में क्रम से घोड़े और सिंह के समान मुखवाले मनुष्य रहते हैं।

शष्कुलीकर्णनामानः पाश्वयोस्तु विषाणिनाम् ।
श्वमुखा वानरास्या ये ते लाङ्गूलिकपार्श्योः ॥(473)॥

सींगवाले मनुष्यों की दोनों ओर शष्कुली के समान कान वाले और पूँछ-वालों को दोनों ओर क्रम से कुत्ते और वानर के समान मुखवाले मनुष्य रहते हैं।

अभाषकान्तयोश्चापि शष्कुलीकर्णमानुषाः ।
गोमुखा मेषवक्त्राःस्युर्विजयार्थोभयान्तयोः ॥(474)॥

गूँगे मनुष्यों की दोनों ओर शष्कुली के समान कानवाले रहते हैं। विजयार्थ पर्वत के दोनों किनारों पर जो कि, पूर्व-पश्चिम समुद्र में निकले हुए हैं क्रम से गौ और भेड़ के समान मुखवाले रहते हैं।

हिमवत्प्राक्प्रतीच्योःस्युरुलकाकालमुखा नराः ।
मेघ विद्युन्मुखाः प्राच्यप्रतीच्योःशिखरिश्रुतेः ॥(475)॥

159

हिमवत पर्वत के पूर्व और पश्चिम कोणों पर क्रम से उल्कामुख और कृष्णमुख तथा शिखरी पर्वत के पूर्व-पश्चिम कोणों पर मेघमुख और विघुन्मुख मनुष्य रहते हैं।

आदर्श गजवक्त्राख्या विजयाद्वान्तयोर्मतः।
चतुर्विंशतिरेव स्युद्धीपाश्चापि तदाश्रयाः॥(476)॥

और ऐरावत क्षेत्र में जो विजयाद्वान्त है उसके दोनों कोणों पर दर्पण तथा हाथी के समान मुखवाले मनुष्य माने गये हैं। इस प्रकार उक्त चौबीस द्वीप ही ऊपर कहे हुए मनुष्यों के आश्रय हैं।

गत्वा पञ्चाशतीं दिक्षु विदिक्षवन्तरदिक्षु च।
पञ्चाशतं च ते द्वीपाः षट्शती मुखपर्वताः॥(477)॥

दिशाओं और विदिशाओं के अन्तरद्वीप समुद्र से पाँच सौ योजन, अन्तरदिशाओं के साढ़े पाँच सौ योजन और पर्वतों के कोणवर्ती द्वीप छह सौ योजन आगे चलकर हैं इन दीपों के अग्रभाग में एक-एक पर्वत हैं।

दिग्गताःशतरुन्द्राःस्युःपञ्चविंशतिमद्रिजाः।
रुन्द्रा पञ्चशतं द्वीपा विदिक्षवन्तरदिक्षु च॥(478)॥

दिशाओं के द्वीप सौ योजन, विदिशाओं तथा अन्तरदिशाओं के पाँच सौ योजन और पर्वतों के तटान्तवर्ती द्वीप पचीस योजन विस्तार वाले हैं।

ते पञ्चनवतं भागं स्वप्रदेशस्य चाप्लुताः।
जलाद्योजनमुद्विध्दवेदिकापरिवारिताः॥(479)॥

इनका पंचानबेवाँ भाग जल में डूबा है तथा ये एक योजन जल से ऊपर उठी हुई वेदिकाओं से घिरे हुए हैं।

तेनैव षोडशाम्यस्तमुपरिष्टाज्जलावृताः।
संकलय्याधरं वोदधर्व क्षेत्रं वाच्यं जलावृतम्॥(480)॥

पंचायनबेवाँ भाग को सोलह से गुणा करने पर गुणित भागों के बराबर इनके ऊपर नीचे का क्षेत्र जल से आवृत्त कहना चाहिए।

जम्बूद्वीपस्य यावन्तो द्वीपाः निकटवर्तिनः।
तावन्तो धातकी खण्ड-द्वीपस्य लवणोदजाः॥(481)॥

लवण समुद्र के जितने अन्तर्द्वीप जम्बूद्वीप के निकटवर्ती हैं उतने ही धातकी खण्ड के निकटवर्ती हैं। भावार्थ-शिखाओं में चार, विदिशाओं में चार, अन्तरालों में आठ और हिमवत शिखरी तथा दोनों विजयाद्वान्त पर्वतों के आठ इस प्रकार चौबीस अन्तर्द्वीप जम्बूद्वीप के निकटवर्ती लवणसमुद्र में हैं तथा चौबीस धातकी खण्ड के निकटवर्ती लवण समुद्र में सब मिलाकर लवण समुद्र में 48 अन्तर्द्वीप हैं।

अष्टादशकुलारत्तेषु पल्यायुष्का कुमानुषाः।
एकोरुगाः गुहावासाःमृष्टमृद्जनारस्तु ते॥(482)॥

उनमें अठारह कुल कुभागभूमियाँ जीवों की हैं और वे एक पल्य की आयु वाले हैं। एक टांगवाले मनुष्य गुफाओं में रहते हैं तथा मधुर मिट्टी का भोजन करते हैं।

शेषपुष्पफलाहासाःवृक्षमूलनिवासिनः।
एकान्तराशनाः मृत्वा जायन्ते भौमभावनाः॥(483)॥

शेष मनुष्य फूल और फलों का आहार करते हैं तथा वृक्षों के नीचे निवास करते हैं। ये सब एक दिन के अन्तर से भोजन करते हैं और मरकर व्यन्तर तथा भवनवासी देव होते हैं।

अनार्यो (म्लेच्छों) का वर्णन आचार्य अकलंक देव ने भी निम्न प्रकार से किया है-

म्लेच्छा द्विविधा अन्तरद्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति म्लेच्छा द्विविधा वेदितव्याः-अन्तरद्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति। तत्रान्तरद्वीपाःलवणोदधेरष्टासु

दिक्षवर्षौ, तदन्तरेषु चाष्टौ। हिमवच्छिखरिणोरुभयोश्च विजयार्धयोरन्तेष्वष्टौ
तत्र दिक्षु द्वीपा वेदिकायास्तिर्यक पञ्चयोजनशतानि प्रविश्य भवन्ति
विदिक्षवन्तरेषु च द्वीपाः पञ्चाशेषु पञ्चयोजनशतेषु गतेषु भवन्ति। शीलावन्तेषु
द्वीपाः षट्षु योजनशतेषु गतेषु भवन्ति। दिक्षु द्वीपाः शतयोजनविस्तीर्णः,
विदिक्षवन्तरेषु च द्वीपा तदर्धविष्कम्भाः। शैलान्तेषु पञ्चविंशति योजन
विरताराः। तत्र पूर्वस्यां दिशि एकोरुकाः अपरस्यां लाङ्गूलिनः।
उत्तरस्यामभाषकाः दक्षिणस्यां विषाणिनः। शशकर्णशष्कुलीकर्ण कर्ण
प्रावरणलम्बकर्णः विदिक्षु। अश्व-सिंह श्व-महिषवराह-व्याघ्र-उलूक-कपिमुखा
अन्तरेषु। मेघ विद्युनमुखाः शिखरिणउभयोरन्तयोः।

मत्स्यमुखाः कालमुखाः हिमवत् उभयोरन्तयोः हस्तमुखादर्शमुखा
उत्तरविजयार्धस्योभयोरन्तयोः गोमुखमेषमुखा दक्षिणविजयार्धस्योभयोरन्तयोः।
एकोरुका मृदाहारा गुहावासिनः शेषाः पुष्पफलाहाराः वृक्षवासिनः। सर्वे ते
पल्योपमायुषः। ते चतुर्विंशतिरपि द्वीपा जलतलादेकयोजनोत्सेधाः। तथा
कालोदेऽपि वेदितव्याः। त एते अन्तरद्वीपजा म्लेच्छाः। कर्मभूमिजाश्च
शक्यवनशबरपुलिन्दादयः। (पृ.567)

अन्तरद्वीपज और कर्मभूमिज के भेद से म्लेच्छ दो प्रकार के हैं।

म्लेच्छ दो प्रकार के हैं-अन्तरद्वीपज और कर्मभूमिज।

लवण समुद्र की आठों दिशाओं में आठ अन्तरद्वीपज हैं। उनके अन्तरालों
में भी आठ हैं तथा हिमवन पर्वत, शिखरी पर्वत तथा दोनों विजयार्द्धों के
अन्तरालों में भी आठ हैं। लवण समुद्र में ये 24 अन्तरद्वीप हैं। वे दिशावर्ती
द्वीप वेदिका से तिरछे पाँच सौ योजन आगे हैं। विदिशा और अन्तरालवर्ती
द्वीप पाँच सौ पचास योजन जाकर हैं। पर्वतों के अन्तिम भागवर्ती द्वीप छह
सौ योजन समुद्र में प्रवेश करने के बाद हैं। दिशावर्ती द्वीप सौ-सौ योजन
विस्तृत हैं, विदिशावर्ती द्वीप पचास-पचास योजन विस्तृत हैं और पर्वतान्तरवर्ती
द्वीप पच्चीस-पच्चीस योजन विस्तृत हैं। वहाँ पूर्व दिशा में एक जांघ वाले,
पश्चिम में पूँछ वाले, उत्तर में गँगे, दक्षिण में सींग वाले मानव हैं। विदिशाओं
में क्रमशः खरगोश के समान कान वाले, शष्कुली (पूली) के समान कान

वाले तथा चौडे कान और लम्बे कान वाले (लम्बकर्ण) हैं। जिनके कान
ही ओढ़ने और बिछाने के वरत्र के समान हैं, वे लम्बकर्ण कहलाते हैं। दिशाओं
के अन्तरालों में अश्व, सिंह, कुत्ता, भैंसा, सुअर, व्याघ्र, उल्लू और बन्दर
के मुख जैसे मुख वाले मनुष्य हैं। शिखरी पर्वत के दोनों अन्तरालों में मेघ
और बिजली के समान मुख वाले, हिमवन के दोनों अन्तरालों में मत्स्य
के समान मुख वाले और काल के समान मुख, उत्तरविजयार्द्ध के दोनों अन्तरालों
में हाथी के समान मुख वाले और दर्पण के समान मुख वाले तथा दक्षिण
विजयार्द्ध के अन्तरालों में गोमुख और मेषमुख वाले मानव हैं। एक पैर वाले
मानव पर्वत की गुफाओं में रहते हैं और सुस्वादु मिट्टी का आहार करते
हैं। शेष अन्तरद्वीपज मानव वृक्षों के नीचे-ऊपर रहते हैं और फल, पुष्प
का आहार करते हैं। इन सब म्लेच्छों की आयु एक पल्य प्रमाण होती है।
ये चौबीसों द्वीप जल स्वरूप तल भाग से एक योजन प्रमाण ऊँचे हैं। इसी
प्रकार कालोदधि में भी 48 अन्तद्वीप हैं और उनमें म्लेच्छ रहते हैं उनका
सारा वर्णन इन अन्तरद्वीपों के समान है। ये सब अन्तरद्वीपज म्लेच्छ हैं
तथा यवन, शक, भील, पुलिन्द आदि कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं।

अनार्य (म्लेच्छ) का वर्णन श्री श्रुतसागरसूरि ने भी तत्वार्थवृत्ति में
निम्न प्रकार से किया है:- म्लेच्छ दो प्रकार के होते हैं। अन्तद्वीपज और
कर्मभूमिज। अब अन्तद्वीपज म्लेच्छों का वर्णन करते हैं। लवण समुद्र में आठों
दिशाओं में आठ द्वीप हैं। इन द्वीपों के अन्तराल में भी आठ द्वीप हैं। हिमवन्
पर्वत के दोनों पाश्वों में दो द्वीप हैं। शिखरीपर्वत के दोनों पाश्वों में भी दो
द्वीप हैं और दोनों विजयार्द्ध पर्वतों के दोनों पाश्वों में चार द्वीप हैं। इस प्रकार
लवण समुद्र में चौबीस द्वीप हैं। इनको कुभोगभूमि कहते हैं। (तत्वार्थवृत्ति
पृ.318)

चौबीस द्वीपों की चारों दिशाओं में जो चार द्वीप हैं वे समुद्र की वेदी
से पाँच सौ योजन की दूरी पर हैं। इनका विस्तार सौ योजन हैं। चारों विदिशाओं
के चार द्वीप और अन्तराल के आठ द्वीप हैं। ये बारह द्वीप समुद्र की वेदी

से साढ़े पाँच सौ योजन की दूरी पर हैं, उनका विस्तार पचास योजन है। पर्वतों के अन्त में जो आठ द्वीप हैं वे समुद्र की वेदी से छह सौ योजन दूरी पर हैं। इनका विस्तार पच्चीस योजन है। पूर्व दिशा के द्वीप में एक पैर वाले मनुष्य होते हैं। दक्षिण दिशा के द्वीप में मनुष्य शृङ्ग (सींग) सहित होते हैं। पश्चिम दिशा के द्वीप में पूँछ वाले मनुष्य होते हैं। उत्तर दिशा के द्वीप में गूँगे मनुष्य होते हैं। चारों विदिशाओं में आग्नेय दिशा में शश (खरहा) के समान कान वाले और नैऋत्य दिशा में शश्कुली के समान कान वाले मनुष्य होते हैं। वायव्य दिशा में मनुष्यों के कान इतने बड़े होते हैं कि वे उनको ओढ़ सकते हैं। ऐशान दिशा में मनुष्यों के कान लम्बे होते हैं। पूर्व और आग्नेय के अन्तराल में अश्व के समान मुख वाले, आग्नेय और दक्षिण के अन्तराल में सिंह के समान मुख वाले, दक्षिण और नैऋत्य के अन्तराल में भषण-कुत्ते के समान मुख वाले, नैऋत्य और पश्चिम के अन्तराल में गर्वर (उल्लू) के समान मुखवाले, पश्चिम और वायव्य के अन्तराल में शूकर के समान मुख वाले, वायव्य और उत्तर के अन्तराल में व्याघ्र के समान मुख वाले, उत्तर और ऐशान के अन्तराल में काक के समान मुख वाले और ऐशान और पूर्व के अन्तराल में कपि (बन्दर) के समान मुख वाले मनुष्य होते हैं। हिमवान पर्वत के पूर्व पाश्व में मछली के समान मुख वाले और पश्चिम पाश्व में काले मुख वाले, शिखरी पर्वत के पूर्व पाश्व में मेघ के समान मुखवाले और पश्चिम पाश्व में काले मुखवाले, शिखरी पर्वत के पूर्व पाश्व विद्युत के समान मुख वाले, दक्षिण दिशा के विजयार्द्ध के पूर्व पाश्व में गाय के समान मुखवाले और पश्चिम पाश्व में मेष के समान मुख वाले और उत्तर दिशा में विजयार्द्ध के पूर्व पाश्व में हाथी के समान मुखवाले और पश्चिम पाश्व में दर्पण के समान मुख वाले मनुष्य होते हैं। एक पैर वाले मनुष्य मिट्टी खाते हैं और गुहाओं में रहते हैं। अन्य मनुष्य वृक्षों के नीचे रहते हैं और फल-फूल खाते हैं। इनकी आयु एक पल्य और शरीर की ऊँचाई दो हजार धनुष है। उक्त चौबीस द्वीप लवण समुद्र के भीतर हैं। इसी प्रकार लवण समुद्र के बाहर भी चौबीस द्वीप हैं। लवण समुद्र के समान कालोदसमुद्र

सम्बन्धी भी अड़तालीस द्वीप हैं। सब मिलाकर छ्यानवें म्लेच्छ द्वीप होते हैं। ये सब द्वीप जल से एक योजन ऊपर हैं। इन द्वीपों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहलाते हैं।

कर्मभूमि के अनार्यः- कर्म भूम्युम्दवाश्च म्लेच्छा पुलिन्दशबरयवनशकख सबर्बादयो ज्ञातव्याः

पुलिन्द, शबर, यवन, शक, खस, बर्बर आदि कर्मभूमि के म्लेच्छ हैं।

सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षणिक एवं धार्मिक क्रान्ति के आद्य आर्यः ऋषभदेव

भोग-भूमि एवं कर्म भूमि के संक्रमण के संधि काल में एक महान क्रान्तिकारी आर्य महापुरुष ने जन्म लिया, जिनका नाम आदिनाथ, आदि ब्रह्म या ऋषभ देव था। ये जन्मतः मतिज्ञान, श्रुतज्ञान व अवधिज्ञान के घारी गहान् विद्वान थे। उन्होंने यौवन अवस्था को प्राप्त कर यशस्वी और गुनन्दा नामक दो सुन्दरी, सुशील, सती कन्याओं के साथ विवाह किया। यह विवाह इस युग के भारतीय आर्य जाति का प्रथम विवाह था। क्योंकि इसके पहले आर्यों में विवाह पद्धति का प्रचलन नहीं हुआ था। उनका ज्येष्ठ पुत्र भरत हुआ जिनके नाम पर इस आर्य खण्ड (आर्यावर्त) का नाम भारत हुआ। इसका विशेष वर्णन जानने के लिये पाठक को मेरे द्वारा रचित 'ऋषभ पुत्र भरत से भारत' नामक पुस्तक पठनीय है। उनके भारत के प्रथम कामदेव 'बाहुबली' तथा ओर भी 99 पुत्र एवं ब्राह्मी, सुन्दरी नामक दो पुत्रियाँ हुई थीं।

किसी एक समय भगवान वृषभदेव सिंहांसन पर सुख से बैठे हुए थे, कि उन्होंने अपना चित्त कला और उपदेश देने में व्यावृत किया। उसी समय उनकी ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की पुत्रियाँ मांगलिक वेशभूषा धारण कर उनके निकट पहुँचीं।

मेधाविन्यौ विनीते च सुशीले चारुलक्षणे।
रूपवत्यौ यशस्विन्यौ श्लाघ्ये मानवती जनैः॥(75)।
आ.पु.प. 16प्. 352

वे दोनों ही कन्याएं बुद्धिमती थीं, विनीत थीं, सुन्दर लक्षण से सहित

थीं, रूपवती थीं और मानिनी स्त्रियों के द्वारा भी प्रशंसनीय थीं।

प्रणते ते समुत्थाप्य दूरान्नमितमरत्के।
प्रीत्या र्वमङ्गरोप्य स्पष्टवाघाय च मरत्के ॥(94)।

संप्रहासमुवाचैवमेतं मन्ये सुरैःसमम्।
भास्ययोऽद्यामरोद्यानं नैवमेते गताः सुराः ॥(95)।

दूर से ही जिनका मरत्क नम्र हो रहा है ऐसी नमस्कार करती हुई उन दोनों पुत्रियों को उठाकर भगवान ने प्रेम से अपनी गोद में बैठाया, उन पर हाथ फेरा, उनका मरत्क सूँघा और हंसते हुए उनसे बोले कि, आओ, तुम समझती होगी कि हम आज देवों के साथ अमर वन को जायेगी परन्तु अब ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि देव लोग पहले ही चले गए हैं।

इत्याक्रीड्य क्षण भूयोऽप्येवमाख्यद् गिरांपतिः।
युवां युवजरत्यौ स्थःशीलेन विनमेन-च ॥(96)।

इस प्रकार भगवान ऋषभदेव क्षण भर उन दोनों पुत्रियों के साथ क्रीड़ा कर फिर कहने लगे कि, तुम अपने शील और विनय गुण के कारण युवावस्था में भी वृक्ष के समान हो।

विद्या का महत्व

तुम दोनों का यह शरीर, यह अवस्था और यह अनुपम शील यदि विद्या से विभूषित किया जाय तो तुम दोनों का यह जन्म सफल हो सकता है।

विद्यावान् पुरुषो लोके संमतिं याति कोविदैः।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्री सृष्टेरग्रिम् पदम् ॥(98)।

इस लोक में विद्यावान पुरुष पण्डितों के द्वारा भी सम्मान को प्राप्त होता है और विद्यावती स्त्री भी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त होती है।

विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी मता।
सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी ॥(99)॥

विद्या ही मनुष्य का यश करने वाली है, विद्या ही पुरुषों का कल्याण करने वाली है, अच्छी तरह से आराधना की गई विद्या देवता ही सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली है।

विद्या कामदुहा धेनुर्विद्या चिन्तामणिर्णृणाम्।
त्रिवर्ग फलितां सूते विद्या संपत् परम्पराम् ॥(100)॥

विद्या मनुष्यों के मनोरथों को पूर्ण करने वाली कामधेनु है, विद्या ही चिन्तामणि है, विद्या से ही धर्म, अर्थ, काम रूप फल से रहित सम्पदाओं की परम्परा उत्पन्न होती है।

विद्या बन्धुश्च मित्रं च विद्या कल्याणकारकम्।
सहयायि धनं विद्या विद्या सर्वार्थसाधनी ॥(101)॥

विद्या ही मनुष्यों का बन्धु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करने वाली है, विद्या ही साथ-साथ जाने वाला धन है और विद्या ही सब प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है।

तदविद्या ग्रहणं यत्नं पुत्रि के कुरुतं युवाम्।
सत्संग्रहण कालोऽयं युवयोर्वर्त्ततेऽधुना ॥(102)॥

इसलिए हे पुत्रियों! तुम दोनों विद्या ग्रहण करने में प्रयत्न करो क्योंकि तुम दोनों के विद्या ग्रहण करने का यही (अवरथा) काल है।

सर्व प्रथम अक्षराङ्क विद्यारम्भ एवं ऋत्री शिक्षा:

इत्युक्त्वा मुहराशास्य विरतीर्णं हेम पट्टके।
अधिवास्य र्खचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया ॥(103)॥
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखनक्षर मालिकाम्।
उपादिशलिपि संख्यारथानं चाङ्करैनुक्रमात् ॥(104)॥

भगवान् ऋषभ देव ने ऐसा कहकर तथा बार-बार उन्हें आशीर्वाद देकर अपने चित्त में स्थिर श्रुत देवता को आदर पूर्वक सुवर्ण के विस्तृत पट्टे पर स्थापित किया, फिर दोनों हाथों से अ, आ आदि वर्णमाला लिखकर उन्हें लिपि (लिखने का) का उपदेश दिया और अनुक्रम से इकाई, दहाई आदि अंकों के द्वारा उन्हें संख्या ज्ञान का भी उपदेश दिया। ऐसी प्रसिद्धि है कि भगवान् ने दाहिने हाथ से वर्णमाला और बायें हाथ से संख्या लिखिथी।

ततो भगवतो वक्त्रान्निः सृतामक्षरावलीम्।
सिद्धं नम इति व्यक्तमङ्गलां सिद्धमातृकाम् ॥(105)॥

अकारादिहकारान्तां शुद्धां मुक्तावलीमिव।
स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीम् ॥(106)॥

अयोगवाहपर्यन्तां सर्वविद्या सु संतताम्।
संयोगाक्षर संभूतिं नैकबीजाक्षरैश्चिताम् ॥(107)॥

समवादीधरद् ब्राह्मी मेधाविन्यति सुन्दरी।
सुन्दरी गणितं रथानक्रमैः सम्यग्धारयत् ॥(108)॥

तदन्तर जो भगवान् के मुख से निकली हुई है, जिसमें “सिद्धं नमः” इस प्रकार का मंगलाचरण अत्यंत स्पष्ट है, जिसका नाम सिद्ध मातृका है, जो स्वर और व्यंजन के भेद से दो भेदों को प्राप्त है जो समस्त विद्याओं में पायी जाती है, जिसमें अनेक संयुक्त अक्षरों की उत्पत्ति है, जो अनेक बीजाक्षरों से व्याप्त है, और जो शुद्ध मोतियों की माला के समान है ऐसे अकार को आदि लेकर हकार पर्यन्त तथा विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्यमानीय इन आयोग - वाह समस्त शुद्ध अक्षरावली को बुद्धिमती ब्राह्मी पुत्री ने धारण किया और अतिशय सुन्दरी, सुन्दरी देवी ने इकाई, दहाई आदि स्थानों के क्रम से गणित शास्त्र को अच्छी तरह धारण किया।

लिपि निर्माण का इतिहास-

मानवीय सभ्यता संस्कृति, आध्यात्मिक उन्नति के लिए शिक्षा का योगदान सबसे महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार अशुद्ध सुवर्ण पाषाण अग्नि से संस्कारित होकर, विशुद्ध होकर, चमकदार मूल्यवान् एवं बहुउपयोगी हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य शिक्षा द्वारा सुसंस्कृत होकर विशुद्ध ज्ञानवान्, तेजवान्, चरित्रवान् एवं बहुआयामी हो जाता है। नीतिकारों ने बताया है-

“विद्याविहीनम् पशुः”

मनुष्य विद्या से हीन पशु के समान है। मनुष्य को पशु-स्तर से ऊपर उठकर मानव, महामानव एवं भगवान् बनने के लिए विद्या की नितान्त आवश्यकता है।

भोगभूमिज मनुष्य स्वाभाविक अनुकूल परिस्थिति एवं सुलभ प्राप्त जीवनोपयोगी सामग्रियों के कारण जीवन क्षेत्र में विशेष संघर्ष नहीं करते थे। वे लोग स्वभावतः पूर्वजन्म के संस्कार से सदाचारी, नीतिवान थे। उस समय में सामाजिक, राष्ट्रीय संगठन भी नहीं था।

(1) सहज प्राप्त जीवनोपयोगी सामग्रियों के कारण (2) सामाजिक राष्ट्रीय आदि संगठन के अभाव के कारण (3) स्वाभाविक नैतिक एवं सदाचार के कारण (4) जीवन क्षेत्र में विभिन्न संघर्षों के अभाव के कारण भोगभूमि काल में दूसरों से प्राप्त शिक्षा की विशेष आवश्यकता न होना स्वाभाविक भी था।

कर्मभूमि प्रवेश के प्राथमिक चरण में भोगभूमि की समस्त परिस्थिति परिवर्तित हो चली। उस समय में काल परिस्थिति परिवर्तन के साथ-साथ सहज प्राप्त जीवनोपयोगी सामग्री हास होती चली। मनुष्य को सहज प्राप्त विद्या, सरलता, नम्रता, नैतिकता क्रमशः हास होती चली। स्वतंत्रतापूर्ण, व्यक्तिगत जीवन समाप्त होकर सामाजिक जीवन क्रमशः वृद्धिंगत हो रहा था। इस परिस्थिति में मनुष्य को नैतिक सदाचारी, ज्ञानी, संगठन प्रिय एवं युगानुकूल

आगे अग्रसर होने के लिये शिक्षा की आवश्यकता नितान्त अनिवार्य थी। उस काल के इस भूखण्ड के महाज्ञानी, दूर-दृष्टि-सम्पन्न ऋषभदेव ने उपरोक्त दृष्टिकोण को लेकर शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार करने के लिये अपने महल (या परिवार) से ही प्रारम्भ किया। क्योंकि व्यक्ति से, परिवार से, समाज से, राष्ट्र का निर्माण होता है। इसलिए व्यक्ति तथा परिवार को शिक्षित, सभ्य, नैतिक बनाना ही समाज एवं राष्ट्र को शिक्षित नैतिक बनाना है।

आदिनाथ की दो पुत्रियां एवं एक सौ एक पुत्र थे। जब ब्राह्मी एवं रुन्दरी शैशव अवस्था को अतिक्रम करके कुमारी अवस्था में पदार्पण कर रही थी, तब ऋषभदेव ने दोनों को शिक्षा प्राप्त करने के लिये योग्य पात्र समझकर दोनों को विद्या - शिक्षा प्रदान की। ब्राह्मी कुमारी को आदिनाथ ने 'अ, आ' आदि स्वर व्यंजनात्मक वर्णमाला की पद्धति सिखलाकर अक्षर विद्या सिखलायी। रुन्दरी को 1, 2 आदि संख्या के माध्यम से अंक विद्या सिखलायी। इरी प्रकार अत्यंत ही प्राचीन काल से स्त्री शिक्षा के राथ-साथ अंकाक्षर विद्या प्रारम्भ हुई। वह काल आधुनिक भाषा में कहने पर प्राग् ऐतिहासिक काल होगा जो कि, ईसा पूर्व अनेक अरबों, खरबों वर्ष पहले है। कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि, अंकाक्षर विद्या कुछ हजार वर्ष पहले ही प्रारम्भ हुई। परन्तु जैन, बौद्ध, हिन्दु आदि वाङ्मय के अध्ययन से रिद्ध होता है कि अंकाक्षर विद्या का प्रारम्भ अत्यंत ही प्राचीन काल में हुआ है।

लिपि के बारे में आधुनिक मत- वर्तमान रांगार मे प्रायः चार सौ प्रधान लिपियाँ प्रचलित हैं। आधुनिक विद्वान् के मतानुसार ईसा पूर्व 10वीं सदी में वर्णमालात्मक लिपियाँ प्रारम्भ हुई। आधुनिक विद्वानों का मत है कि 25000 वर्ष पूर्व 'को मेगनाल' मानव गुहा में रहते थे एवं गुफा के दिवारों में चित्र बनाते थे। इस चित्र के माध्यम से ही लिपियों का प्रारम्भिक सूत्रपात हुआ। 10000 वर्ष पहले सभ्य मानव का विकास हुआ। एशिया के पश्चिमी तट पर ईसा पूर्व 2000 में 'सेमेटिक' भाषा परिवार की एक अक्षर मालाताक

लिपि उत्पन्न हुई जो कि प्राचीनतम लिपि है। 1000 वर्ष ईसा पूर्व में व्यंजनात्मक या वर्णमालात्मक लिपि रूप 'सेमेटिक लिपि' परिवर्तित हो जाती है। प्राचीन 'सुमेरी लिपि' परिवर्तित होकर ईसा पूर्व 800 में ब्राह्मी लिपि रूप में परिवर्तित हुई। इस ब्राह्मी लिपि से ही पूर्ण भारतीय एवं तिब्बती सिंहली आदि लिपियाँ उत्पन्न हुई। आधुनिक विज्ञान के मतानुसार सर्वप्रथम चित्रलिपि हुई। उसके उपरान्त लिपि क्रम से विकसित होकर भाव चित्रलिपि में परिणमन हुई।

काल क्रम से परिवर्तित संवर्द्धित होकर भाव चित्रलिपि ध्वनि संकेत रूप में परिणमन हो गई। अनेक काल परिवर्तन के बाद ध्वनि संकेत में जो विशेष परिवर्तित हुआ, वह अक्षरात्मक लिपि है। यह अक्षरात्मक लिपि ही सभ्य भाषा के लिए बीज स्वरूप है। समर्त साहित्यरूपी विशाल भवन इस अक्षरात्मक ईट से निर्मित हुआ है। यह अक्षरात्मक लिपि ही संयुक्त होकर अंतिम विकसित लिपि, वर्णमालात्मक लिपि में परिवर्तित हो जाती है।

लिपि निर्माता- हिन्दु धर्म की अपेक्षा 'ब्रह्मा' ब्राह्मी लिपि का निर्माता है। प्राचीन मिस्र की अपेक्षा 'भोत् देव' लिपि का निर्माता है। बेबीलोन की अपेक्षा 'नेवो देवता' लिपि का निर्माता है। प्राचीन यहूदी अपेक्षा पैगम्बर 'मूसा' लिपि का निर्माता था। इस्लाम धर्म की अपेक्षा 'अल्लाह' ने लिपि निर्माण करके आदम को समर्पण किया था। युनानी लोग 'हर्मेस' को लिपि का निर्माता मानते हैं। जैनधर्म की अपेक्षा आदिनाथ आदिब्रह्मा ऋषभदेव ने लिपि शिक्षा पहले ब्राह्मी, कुमारी को दी थी।

हीरागना जापानी लिपि का जनक बौद्ध भिक्षुक 'कोवो दैशी' कवि था। उसने 9वीं शताब्दी में इस लिपि का निर्माण किया था। इस लिपि में प्रथम 3 अक्षर इ-रो-हा होने से इस लिपि को इरोहा अक्षरमाला कहते हैं। इस अक्षरमाला के ये सारे अक्षर अपुनरावृति से रखने से एक बौद्ध दर्शन को प्रगट करते हैं, इसका अर्थ-

इस क्षणिक संसार में सभी कुछ अनित्य है। इसके मायाजाल तथा दिखावे

से मैं बचना चाहता हूँ॥

सिंहल में अशोक के ब्राह्मी लिपि का शिलालेख मिला है। आश्चर्य की बात यह है कि, ब्राह्मी लिपि का प्रचार पश्चिम बोर्नियो तक हुआ है। पश्चिमी बोर्नीयो में कयुअस नदी के किनारे सुंगेइते कार के पास के चश्मों के समीप एक चट्टान पर उत्कीर्ण मूर्तियों के पास सात अभिलेख मिले हैं। उसमें लिखा हुआ है कि-

अज्ञानाद्यीयते कर्म जन्मनः कर्म कारणम् ।

ज्ञानान्न क्रियते कर्म कर्माभावान्न जायते ॥

उपरोक्त आधुनिक शोध से एवं प्राचीन साहित्यों के मंथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि, प्रचलित सम्पूर्ण वर्णमालात्मक लिपि में ब्राह्मी लिपि सबसे प्राचीनतम लिपि है। लिपि विद्या से ही मानवीय संस्कृति एवं सभ्यता की विशेष उन्नती हुई है।

आधुनिक गणितज्ञ एवं विद्वान् लोग मुक्त - कंठ से स्वीकार करते हैं कि, अनेक विद्या एवं गणित का प्रारम्भ सर्वप्रथम भारत में हुआ था। शून्य एवं 1, 2, 3 आदि 9 तक ईकाई संख्याओं का आविष्कार भारत में हुआ था। इटली, ग्रीक आदि देशों में चित्र, संकेत लिपि में संख्या एवं गणित विद्या का प्रचलन था। भारतीय पद्धति के अनुसार जिस वृहत्‌तम संख्या को आधा लाईन में लिख सकते हैं उसको इटेलियन के अनुसार लिखने पर आठ-दस लाईन अथवा आधा-एक पृष्ठ लगेगा।

सर्वप्रथम वाङ्मयारंभ एवं उसका स्वरूप

न बिना वाङ्मयात् किंचिदस्ति शास्त्रं कलापि वा ।

ततो वाङ्मयमेयादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत् ।(109)।

आ. पु. पर्व 16 पृ. 356

वाङ्मय के बिना न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है इसलिये भगवान् वृषभदेव ने सबसे पहले उन पुत्रियों के लिये वाङ्मय का उपदेश दिया था।

सुमेधसावसंमोहादध्येषात् ।
वाग्देव्याविव निशेषं वाङ्मयं ग्रन्थतोऽर्थतः ॥(110)॥

अत्यन्त बुद्धिमती उन कन्याओं ने सरस्वती देवी के समान अपने पिता के मुख से संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित शब्द तथा अर्थ रूप समस्त वाङ्मय का अध्ययन किया था।

पदविद्यामधिच्छन्दोविचितिं ।
त्रयीं समुदितामेतां तद्विदो वाङ्मयं विदुः ॥(111)॥

वाङ्मय के जानने वाले गणधरादि देव व्याकरण शास्त्र, छन्दशास्त्र और अलंकार शास्त्र इन तीनों के समूह को वाङ्मय कहते हैं।

तदा स्वायंभुवं नाम पदशास्त्रमभूत महत् ।
यत्तत्परशताध्याययैरतिगम्भीरमधिवत् ॥(112)॥

उस समय स्वयम्भू अर्थात् भगवान् वृषभदेव का बनाया हुआ एक बहुत भारी व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध हुआ था उसमें सौ से भी अधिक अध्याय थे और समुद्र के समान अत्यन्त गम्भीर था।

छन्दोविचितिमध्येवं ।
उक्तात्युक्तादिभेदाश्च ।
नानाध्यायैरुपादिशत् ।
षड्विंशतिमदीदृशत् ॥(113)॥

इसी प्रकार उन्होंने अनेक अध्यायों में छन्दशास्त्र का भी उपदेश दिया था और उसके उक्ता, अत्युक्ता आदि छब्बीस भेद भी दिखलाये थे।

प्रस्तारं नष्टमुद्दिष्टमेकाद्वित्रिलघुक्रियाम् ।
संख्यामथाघवयोगं च व्याजहार गिरांपतिः ॥(114)॥

अनेक विद्याओं के अधिपति भगवान् ने प्रस्तार, नष्ट, उदिष्ट एकद्वित्रिलघुक्रिया, संख्या और अधवयोग छन्दशास्त्र के इन छह प्रत्ययों का भी निरूपण किया था।

उपमादीनलंकारास्तन्मार्ग ।
दश प्राणानलंकार संगृहे विभुरभ्यधात् ॥(115)॥

भगवान ने अलंकारों का संग्रह करते समय अथवा अलंकार संग्रह ग्रन्थ में उपमा, रूपक, यमक, आदि अलंकारों का कथन किया था, उनके शब्दालंकार और अर्थालंकार रूप दो मार्गों का विस्तार के साथ वर्णन किया और माधुर्य ओज आदि दस प्राण अर्थात् गुणों का भी निरूपण किया था।

अद्यानन्तर ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों-पुत्रियों की पदज्ञान (व्याकरण ज्ञान) रूपी दीपिका से प्रकाशित हुई समस्त विद्याएँ और कलाएँ अपने आप ही परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो गयी थी। इस प्रकार गुरु अथवा पिता के अनुग्रह से जिनसे समस्त विद्याएँ पढ़ली हैं ऐसी वे दोनों पुत्रियाँ सरस्वती देवी के अवतार लेने के लिये पात्रता को प्राप्त हुई थी। वे इतनी अधिक ज्ञानवती हो गई थी कि साक्षात् सरस्वती भी उनमें अवतार ले सकती थी।

सर्वप्रथम अर्थशास्त्र, राजनीति आदि की शिक्षा व पुरुष शिक्षा-

पुत्राणां च यथाम्नायं विनया दानपूर्णकम् ।
शास्त्राणि व्याजहारैवमा नुपूर्व्या जगदगुरुः ॥(118)॥

जगदगुरु भगवान् वृषभदेव ने इसी प्रकार अपने भरत आदि पुत्रों को भी विनयी बनाकर क्रम से आम्नाय के अनुसार अनेक शास्त्र पढ़ाये।

भरतायार्थ शास्त्रं च भरतं च ससंग्रहम् ।
अध्यायैरतिविरतीर्णः स्फुटीकृत्य जगौ गुरुः ॥(119)॥

भगवान ने भरत पुत्र के लिये अत्यन्त विस्तृत बड़े-बड़े अध्यायों से स्पष्ट कर अर्थशास्त्र और संग्रह(प्रकरण) सहित नृत्यशास्त्र पढ़ाया था।

विभुर्वृषभसेनाय
गंधर्वशास्त्रमाचख्यौ
गीतवाद्यर्थ
यत्राध्यायाः परश्शतम् ।(120)।

स्वामी वृषभदेव ने अपने पुत्र वृषभसेन के लिये जिसमें गाना बजाना आदि अनेक पदार्थों का संग्रह है और जिसमें सौ से भी अधिक अध्याय हैं ऐसे गन्धर्व शास्त्र का व्याख्यान किया था।

अनन्तविजयायाख्याद
नानाध्यायशताकीर्णा
विद्यां चित्रकलाश्रिताम् ।
साकलाः कलाः ।(121)।

अनन्त विजय पुत्र के लिये नाना प्रकार के सैकड़ों अध्यायों से भरी हुई चित्रकला सम्बन्धी विद्या का उपदेश दिया और लक्ष्मी या शोभा सहित समस्त कलाओं का निरूपण किया।

विश्वकर्मस्तं चास्मै वास्तुविद्यामुपादिशत् ।
अध्यायविस्तररत्नत्र बहुभेदोऽवधारितः ।(122)।

इसी अनन्त विजय पुत्र के लिये उन्होंने सूत्रधार की विद्या तथा मकान बनाने की विद्या का उपदेश दिया। उस विद्या के प्रतिपादक शास्त्रों में अनेक अध्यायों का विस्तार था तथा उसके अनेक भेद थे।

कामनीतिमथ स्त्रीणां पुरुषाणां च लक्षणम् ।
आयुर्वेदं धनुर्वेदं तन्त्रं चाश्वेभगोचरम् ।(123)।

तथा रत्नपरीक्षां च बाहुबल्याख्यसूनवे ।
व्याचख्यौ बहुधाम्नातैर ध्यायैरतिविस्तृतैः ।(124)।

बाहुबली पुत्र के लिये उन्होंने कामनिती, स्त्री-पुरुषों के लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, घोड़ा-हाथी आदि के लक्षण जानने के तन्त्र और रत्न परीक्षा आदि के शास्त्र अनेक प्रकार के बड़े-बड़े अध्यायों के द्वारा सिखलाये।

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रं लोकोपकारि यत् ।
तत्सर्वमादिकर्त्तासौ स्वाः समन्वशिष्टं प्रजाः ।(125)।

इस विषय में अधिक कहने से क्या प्रयोजन है? संक्षेप में इतना ही बस है कि लोक का उपकार करने वाले जो जो शास्त्र थे भगवान् आदिनाथ ने वे सब अपने पुत्रों को सिखलाये थे।

समुद्दीपितविद्यस्य काप्यासीद्विसिता विभोः ।
रवभावभारवरस्येव भास्तवतः शरदागमे ।(126)।

जिस प्रकार स्वभाव से दैदीप्यमान रहने वाले सूर्य का तेज शरदऋतु आने पर और भी अधिक हो जाता है उसी प्रकार जिन्होंने अपनी समस्त विद्याएँ प्रकाशित कर दी हैं ऐसे भगवान् ऋषभदेव का तेज उस समय बड़ा अद्भुत हो रहा था।

सुतैरधीतनिश्शेषविद्यैरद्युतदीशिता ।
किरणैरिव तिग्मांशु रासादित शरदद्युतिः ।(127)।

जिन्होंने समस्त विद्याएँ पढ़ ली हैं ऐसे पुत्रों से भगवान् ऋषभदेव उस समय उस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि शरदऋतु में अधिक कान्ति को प्राप्त होने वाला सूर्य अपनी किरणों से सुशोभित होता है।

आदिनाथ के कुमारावरस्था का काल

अपने इष्ट पुत्र और इष्ट स्त्रियों से घिरे हुए भगवान् ऋषभदेव का बहुत भारी समय निरन्तर अनेक प्रकार के दिव्य भोग भोगते हुए व्यतीत हो गया।

ततः कुमारकालोऽस्य कलितो मुनिसत्तमैः ।
विंशतिः पूर्वलक्षणां पूर्यते स्म महाधियः ।(129)।

आ. पु. पर्व 16 पृ. 357

इस प्रकार अनेक प्रकार के भोगों का अनुभव करते हुए भगवान् का बीस लाख पूर्व वर्षों का कुमार काल पूर्ण हुआ था ऐसी उत्तम मुनि गणधरदेव ने गणना की है।

प्राचीन काल में मनुष्यों की आयु सुदीर्घ होने के कारण कुमार काल भी सुदीर्घ होता था। उत्तम भोगभूमिज की तीन पल्य, मध्यज भोग-भूमिज की दो पल्य, जघन्य भोग-भूमिज की एक पल्य प्रमाणित आयु थी। यह आयु उत्तरोत्तर घटती गयी। आदिनाथ भगवान् ने जघन्य भोगभूमि के अन्तिम समय में जन्म लिया था। उनकी आयु 84 लाख पूर्व वर्ष थी। इस आयु के अनुपात से भगवान् का कुमार काल 20 लाख पूर्व वर्ष का था। तीर्थकर आदि शलाका महापुरुष विशिष्ट पुण्यशाली होने के कारण सम्पूर्ण जीवन में उनकी शरीर की अवस्था कुमार काल की अवस्था के बराबर रहती है। सिर में केवल सुन्दरता के लिये केश होते हैं परन्तु उनकी दाढ़ी-मूँछ नहीं आती है। विशिष्ट सातिशय पुण्य के कारण उनकी शरीर की संरचना अत्यन्त सुन्दर, संगठित, दृढ़, समचतुरस संस्थान होती है। वे आहार करते हैं, परन्तु निहार (मलमूत्र त्याग) नहीं करते हैं। विश्व में सबसे अधिक पुण्यशाली तीर्थकर होने के कारण उनको कभी भी जीवन भर रोगादि नहीं होता है।

साधारणतः देखा जाता है जो विशेष दुःखी, सन्तापी, पापी, भय, चिन्ता, रोगादि युक्त होते हैं वे शीघ्र ही वृद्ध जैसे भासित होते हैं। जो उपर्युक्त दुःख आदि से रहित होते हैं वे भी प्रायः चिरकाल तक स्वस्थ युवक जैसे भासित होते हैं।

यदि साधारण मनुष्यों में ऐसी परिस्थिति हो सकती है तब तीर्थकर जैसे महापुरुष जीवन भर कुमार अवस्था जैसे शरीर को धारण करते हैं उसमें आश्चर्य क्या है? इससे सिद्ध होता है कि चिर कुमार रहने के लिए पुण्यकर्म, तनाव- चिन्तामुक जीवन, सदाचार, शुद्ध शाकाहार भोजन की आवश्यकता है। उपर्युक्त सिद्धान्त को जीवन में उतारने पर अभी भी मानव पूर्ण जीवन नहीं तो जीवन के बहुअंश कुमार जैसी स्फूर्ति, ताजगी, उत्साह से भरपूर स्वस्थ जीवन यापन कर सकता है।

प्रारम्भिक कर्मभूमि की दुःखित प्रजाओं की आदिनाथ से विनती -

अत्रान्तरे महौषध्यो दीसौषध्यश्च पादपाः।
ससर्वैषधयः कालाञ्जाताः प्रक्षीणशक्तिकाः ॥(130)॥

इस बीच में काल के प्रभाव से महौषधि, दीसौषधि, कल्पवृक्ष तथा सब प्रकार की औषधियाँ शक्ति हीन हो गयी थीं।

सस्यान्यकृष्टपच्यानि यान्यासन् स्थितये नृणाम्।
प्रायस्तान्यपि कालेन ययुर्विरलतां भूवि ॥(131)॥

मनुष्यों के निर्वाह के लिए जो बिना बोये हुए उत्पन्न होने वाले धान्य थे वे भी काल के प्रभाव से पृथिवी में प्रायः करके विरलता को प्राप्त हो गये थे- जहाँ कहीं कुछ-2 मात्रा में ही रह गये थे।

रसवीर्य विपाकैस्तैः प्रहीणाः पादपा यदा।
तदातङ्गादिबाधाभिः प्रजा व्याकुलतां गताः ॥(132)॥

जब कल्पवृक्ष रस, वीर्य और विपाक आदि से रहित हो गये तब वहाँ की प्रजा रोग आदि अनेक बाधाओं से व्याकुलता को प्राप्त होने लगी।

तत्प्रहाणान्मनोवृत्तिं दधाना व्याकुलीकृताम्।
नाभिराजमुपासेदुः प्रजा जीवित काम्यया ॥(133)॥

कल्पवृक्षों के रस, वीर्य आदि के नष्ट होने से व्याकुल मनोवृत्ति को धारण करती हुई प्रजा जीवित रहने की इच्छा से महाराज नाभिराज के समीप गई।

नाभिराजाज्ञया चष्टुस्तोऽन्तिकमुपाययुः।
प्रजा प्रणतमूर्द्धानो जीवितोपायलिप्सया ॥(134)॥

तदनन्तर नाभिराज की आज्ञा से प्रजा भगवान ऋषभनाथ के समीप गयी और अपने जीवित रहने के उपाय प्राप्त करने की इच्छा से उन्हें मर्स्तक झुकाकर नमस्कार करने लगी।

अथविज्ञापयामासुरित्युपेत्य

सनातनम्।

प्रजाः प्रजातसंत्रासाः शरण्यं शरणाश्रिताः ।(135)।

अथानन्तर अन्नादि से नष्ट होने से जिसे अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो रहे हैं और जो सबको शरण देने वाले भगवान की शरण को प्राप्त हुई है ऐसी प्रजा सनातन भगवान् के समीप जाकर इस प्रकार निवेदन करने लगी कि-

वाऽच्छन्त्यो जीविकां देव त्वां वयं शरणं श्रिताः।
तत्रस्त्रायरव्य लोकेश तदुपाय प्रदर्शनात्।(136)।

हे देव ! हम लोग जीविका प्राप्त करने की इच्छा से आपकी शरण में आये हुए हैं इसलिए हे तीन लोक के स्वामी ! आप उसके उपाय दिखलाकर हम लोगों की रक्षा कीजिए ।

विभो समूल मुत्सन्नाः पितृकल्पा महाडिध्पाः।
फलन्त्यकृष्टं पच्यानि सरयान्यपि च नाधुना।(137)।

हे विभो ! जो कल्पवृक्ष हमारे पिता के समान थे- पिता के समान ही हम लोगों की रक्षा करते थे वे सब मूल सहित नष्ट हो गये हैं और जो धान्य बिना बोये ही उत्पन्न होते थे वे भी अब नहीं फलते हैं ।

क्षुत्पिपासादिबाधाश्च दुन्वन्त्यस्मान्समुत्थिताः।
न क्षमाः क्षणमप्येकं प्राणितुं प्रोजिज्ञताशनाः।(138)।

हे देव ! बढ़ती हुई भूख प्यास आदि की बाधाएँ हमें दुःखी कर रही हैं । अन्न पानी से रहित हुए हम लोग अब एक क्षण भी जीवित रहने में समर्थ नहीं हैं ।

शीतातपमहावातप्रवर्षोपप्लवश्च नः।
निराश्रयान्दुनोत्यद्य ब्रुहि नस्तत्प्रतिक्रियाम्।(139)।

हे देव ! शीत, आतप, महावायु और वर्षा आदि का उपद्रव आश्रय रहित

हम लोगों को दुःखी कर रहा है इसलिए आज इन सबके दूर करने का उपाय कहिए ।

त्वां देवमादि कर्त्तारं कल्पांघिपमिवोन्नतम्।
समाश्रिताः कथं भीतेः पदं स्याम वयं विभोः।(140)।

हे विभो ! आप इस युग के आदि कर्ता हैं और कल्पवृक्ष के समान उन्नत हैं, आपके आश्रित हुए हम लोग भय के स्थान कैसे हो सकते हैं ?

ततोऽस्माकं यथाद्य स्याज्ञीविका निरूपद्रवा।
तथोपदेष्टमुद्योगं कुरु देव प्रसीद नः।(141)।

इसलिए हे देव जिस प्रकार हम लोगों की आजीविका निरूपद्रव हो जाये, आज उसी प्रकार उपदेश देने का प्रयत्न कीजिए और हम लोगों पर प्रसन्न होईये ।

प्रजाओं के दुःख दूर करने के लिए ऋषभदेव का उपाय

इस प्रकार प्रजाजनों के दीन वचन सुनकर जिनका हृदय दया से प्रेरित हो रहा है ऐसे भगवान् आदिनाथ अपने मन में ऐसा विचार करने लगे कि

पूर्वापर विदेहेषु या स्थितिः समवास्थिता।
साद्य प्रवर्त्तनीयात्र ततो जीवन्यमूः प्रजाः।(143)।

पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो स्थिति वर्तमान है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है उसी से यह प्रजा जीवित रह सकती है ।

षट् कर्म एवं वर्णाश्रम-

षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः।
यथा ग्रामगृहादिनां संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः।(144)।

वहाँ जिस प्रकार असि, मसि आदि छह कर्म हैं जैसी क्षत्रिय आदि वर्णों की स्थिति है और जैसी ग्राम-घर आदि की पृथक-पृथक् रचना है

उसी प्रकार यहाँ पर भी होनी चाहिए।

तथात्राप्युचितावृतिरूपायैरेभिरङ्ग्नाम् ।
नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति ॥(145)॥

इन्हीं उपायों से प्राणियों की आजीविका चल सकती है। इनकी आजीविका के लिए और कोई उपाय नहीं है।

कर्मभूरद्य जातेयं व्यतीतौ कल्पभूरुहाम् ।
ततोऽत्र कर्मभिःषडभिः प्रजानां जीविकोचिता ॥(146)॥

कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर अब यह कर्मभूमि प्रकट हुई है, इसलिये यहाँ प्रजा को असि, मसि आदि छह कर्मों के द्वारा ही आजीविका करना उचित है।

इत्याकलय्य तत्क्षेमवृत्त्युपायं क्षणं विभुः ।
मुहुराश्वासयामास मा भैषेति तदा प्रजाः ॥(147)॥

इस प्रकार स्वामी वृषभदेव ने क्षणभर प्रजा के कल्याण करने वाली आजीविका का उपाय सोचकर उसे बार-बार आश्वासन दिया कि तुम भयभीत मत होओ।

विभिन्न देशों की स्थापना

अथानन्तर भगवान के स्मरण करने मात्र से देवों के साथ इन्द्र आया और उसने नीचे लिखे अनुसार विभाग कर प्रजा की जीविका के उपाय किये।

शुभे-दिने सुनक्षत्रे सुमुहूर्ते शुभोदये ।
स्वोद्घस्थेषु ग्रहेष्वैरानुकूल्ये जगद्गुरोः ॥(149)॥

कृतप्रथममाङ्गल्ये सुरेन्द्रो जिनमन्दिरम् ।
न्यवेशयत् पुरस्यास्य मध्ये दिक्ष्वप्यनुक्रमात् ॥(150)॥
(आ. पर्व 16 पृ. 359)

शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभ मुहूर्त और शुभ लगन के समय तथा सूर्य आदि ग्रहों के अपने-अपने उच्च स्थानों में स्थित रहने और जगद् गुरु भगवान के हर एक प्रकार की अनुकूलता होने पर इन्द्र ने प्रथम ही मांगलिक कार्य किया और फिर उसी अयोध्यापुरी के बीच में जिनमन्दिर की रचना की। इसके बाद पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर इस प्रकार चारों दिशाओं में भी यथा क्रम से जिनमन्दिरों की रचना की।

कोसलादीन् महादेशान् साकेतादि पुराणि च ।
सारामसीमनिगमान् खेटादीश्च न्यवेशयत् ॥(151)॥

तदनन्तर कौशल आदि महादेश, अयोध्या आदि नगर, वन और सीमा सहित गाँव तथा खेड़ो आदि की रचना की थी।

देशः सुकोसलावन्तीपुण्ड्रो ग्राश्मकरम्यकाः ।
कुरुकाशीकलिङ्गाङ्गवङ्ग्नसुह्याः समुद्रकाः ॥(152)॥

काश्मीरोशीनरानर्त्त वत्सपञ्चालमालवाः ।
दशार्णः कच्छमगधा विदर्भाः कुरुजाङ्गलम् ॥(153)॥

करहाटमहाराष्ट्रसुराष्ट्राभीरकोङ्गणाः ।
वनवासान्ध्रकर्णाटिकोसलाश्चोलकेरलाः ॥(154)॥

दार्वाभिसारसौवीरशूरसेनापरान्तकाः ।
विदेहसिन्धुगान्धारपवनाश्चेदिपलवाः ॥(155)॥

काम्बोजा रट्टबाल्हीकतुरुष्कशककेक्याः ।
निवेशितास्तथान्येऽपि विभक्ता विषयास्तदा ॥(156)॥

सुकोशल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, बंग, सुह्या, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार,

सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पलव, काम्बोज, अरह, वाल्हीक, तुरुष्क, शक और केकय इन देशों की रचना की तथा इनके सिवाय उस समय और भी अनेक देशों का विभाग किया।

**अदेवमातृकाः केचिद् विषया देवमातृकाः।
परे साधारणाः केचिद् यथास्वं ते निवेशिताः।(157)**

इन्द्र ने उन देशों में से कितने ही देश यथासम्भव रूप से अदेवमातृक अर्थात् नदी-नहरों आदि से सींचे जाने वाले, कितने ही देश देवमातृक अर्थात् वर्षा के जल से सींचे जाने वाले और कितने ही देश साधारण अर्थात् दोनों से सींचे जाने वाले निर्माण किये थे।

**अभूतपूर्वरुद्भूतैर्भूरभात्तैर्जनास्पदैः।
दिवः खण्डैरिवायातैः कौतुकाद्वरणीतलम्।(158)**

जो पहले नहीं थे नवीन ही प्रकट हुये थे, ऐसे देशों से वह पृथ्वी तल ऐसा सुशोभित होता था, मानो कौतुक वश स्वर्ग के टुकड़े ही आये हों।

**देशैः साधारणानूपजाङ्गलैस्तैस्तता मही।
रेजे रजतभूमर्तुरारादा च पयोनिधेः।(159)**

विजयार्ध पर्वत के समीप से लेकर समुद्र पर्यन्त कितने ही देश साधारण थे, कितने ही बहुत जल वाले थे और कितने ही जल की दुर्लभता से सहित थे, उन देशों से व्याप्त हुई पृथ्वी भारी सुशोभित होती थी।

सुरक्षोपाय एवं किले निर्माण-

**तदन्तेष्वन्तपालानां दुर्गाणि परितोऽभवन्।
स्थानानि लोकपालानामिव स्वर्धामसीमसु।(160)**

जिस प्रकार स्वर्ग के धामों-स्थानों की सीमाओं पर लोकपाल देवों के स्थान होते हैं उसी प्रकार उन देशों की अन्त सीमाओं पर भी सब और

अन्तपाल अर्थात् सीमारक्षक पुरुषों के किले बने हुये थे।

**तदन्तरालदेशाश्चबभूवरनुरक्षिताः।
लुधकारण्यचरकपुलिन्दशबरादिभिः।(161)**

उन देशों के मध्य में और भी अनेक देश थे जो लुधक, आरण्य, चरट, पुलिन्द तथा शबर आदि म्लेच्छ जाति के लोगों के द्वारा रक्षित रहते थे।

राजधानी निर्माण-

**मध्ये जनपदं रेजू राजधान्यः परिष्कृताः।
वप्रप्राकार परिखाँगोपुराद्वालकादिभिः।(162)**

उन देशों के मध्यभाग में कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर और अटारी आदि से शोभायमान राजधानी सुशोभित हो रही थी।

ग्राम नगरादि के निर्माण-

**तानि स्थानीयसंज्ञानि दुर्गाण्यावृत्य सर्वतः।
ग्रामादीनां निवेशोऽभूद् यथाभिहितलक्ष्मणाम्।(163)**

जिनका दूसरा नाम स्थानीय है ऐसे राजधानी रूपी किले को घेरकर सब और शास्त्रोक्त लक्षण वाले गाँवों आदि की रचना हुई थी।

**ग्रामावृतिपरिक्षेपमात्राः स्युरुचिता श्रयाः।
शूद्रकर्षकभूयिष्ठाः सारामाः सजलाशया।(164)**

जिनमें बाड़ से घिरे हुए घर हों, जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हों तथा जो बगीचा और तालाबों सहित हों उन्हे ग्राम कहते हैं।

**ग्रामाः (ग्रामाः) कुलशतेनेष्टो निकृष्टःसमधिष्ठितः।
परस्तत्पञ्च शत्या स्यात् सुसमृद्धकृषीवलः।(165)**

जिसमें सौ घर हों उसे निकृष्ट अर्थात् छोटा गाँव कहते हैं तथा जिसमें पाँच सौ घर हों और जिसके किसान धन सम्पन्न हों उसे बड़ा गाँव कहते हैं।

**क्रोशद्विकोशसीमानो ग्रामा: स्युरधमोत्तमाः।
सम्पन्नसर्यसुक्षेत्राः प्रभूतयवसोदकाः ॥(166)।**

छोटे गाँवों की सीमा एक कोस और बड़े गाँवों की सीमा दो कोस की होती है। इन गाँवों के धान के खेत सदा सम्पन्न रहते हैं और इनमें धास तथा जल भी अधिक रहता है।

**सरिदिगिरि दरीगृष्टिक्षीरकण्टकशाखिनः।
वनानि सेतवश्चेति तेषां सीमोपलक्षणम् ॥(167)।**

नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान, क्षीरवृक्ष, अर्थात् थूवर आदि के वृक्ष बबूल आदि कंटीले वृक्ष, वन और फूलं ये सब उन गाँवों की सीमा के चिन्ह कहलाते हैं अर्थात् नदी आदि से गाँवों की सीमा का विभाग किया जाता है।

**तत्कर्तृभोकृनियमो योगक्षेमानुचिन्तनम्।
विष्टिदण्डकराणां च निबन्धो राजसाङ्गवेत ॥(168)।**

गाँवों के बसाने और उपभोग करने वालों के योग्य नियम बनाना, नवीन वस्तु के बनाने और पुरानी वस्तु की रक्षा करने के उपाय, वहाँ के लोगों से बेगार कराना, अपराधियों को दण्ड देना तथा जनता से कर वसूलना आदि कार्य राजाओं के अधीन रहते थे।

नगर-

**परिखागोपुराद्वालवप्रग्राकार मण्डितम्।
नानाभवनविन्यासं सोद्यानं सजलाशयम् ॥(169)।
पुरमेवंविधं शस्तमुचितोद्देशसुस्थितम्।
पूर्वोत्तरप्लवाम्भरकं प्रधानपुरुषोचितम् ॥(170)।**

जो परिखा, गोपुर, अटारी, कोट और प्राकार से सुशोभित हो, जिसमें अनेक भवन बने हुये हों, बगीचे और तालाबों से सहित हो, जो उत्तम रीति से अच्छे स्थान पर बसा हुआ हो, जिसमें पानी का प्रवाह पूर्व और उत्तर के बीच वाली ईशान दिशा की ओर हो तथा जो प्रधान पुरुषों के रहने के योग्य हो वह प्रशंसनीय पुर अथवा नगर कहलाता है।

खर्वट-

**सरिदिगिरिभ्यां संरुद्धं खेटमाहुर्मनीषिणः।
केवलं गिरिसंरुद्धं खर्वटं तत्प्रचक्षते ॥(171)।**

जो नगर नदी और पर्वत से घिरा हुआ हो उसे बुद्धिमान पुरुष खेट कहते हैं और जो केवल पर्वत से घिरा हो उसे खर्वट कहते हैं।

पत्तन-

**मडम्बमामनन्ति ज्ञाः पञ्चग्रामशतीवृत्तम्।
पत्तनं तत्समुद्रान्ते यन्नोभिरवतीर्यते ॥(172)।**

जो पांच सौ गाँवों से घिरा हो उसे पण्डितजन मडम्ब मानते हैं और जो समुद्र के किनारे हो तथा जहाँ पर लोग नावों के द्वारा उतरते (आते-जाते) हैं उसे पत्तन कहते हैं।

संवाह-

**भवेद् द्रोणमुखं नाम्ना निम्नगातटमाश्रितम्।
संवाहस्तु शिरोव्यूढ धान्यं संचय इष्यते ॥(173)।**

जो किसी नदी के किनारे पर हो उसे द्रोणमुख कहते हैं और जहाँ मस्तकपर्यन्त ऊँचे-ऊँचे धान्य के ढेर लगे हों वह संवाह कहलाता है।

**पुटभेदनभेदानाममीषां च क्षचित्क्षचित्।
संनिवेशोऽभवत् पृथ्व्यां यथोद्देशमितोऽमुतः ॥(174)।**

इस प्रकार पृथ्वी पर जहाँ-तहाँ अपने योग्य स्थानों के अनुसार कहीं-कहीं पर ऊपर कहे हुए गाँव, नगर आदि की रचना हुई थी।

शतान्यष्टौ च चत्वारि द्वे च स्युर्गमिसंख्यया।
राजधान्यास्तथा द्रोणमुखर्खर्वटयोः क्रमात्।(175)।

दशग्राम्यास्तु मध्ये यो महान् ग्रामः स संग्रहः।
तथा घोषकरादिनामपि लक्ष्म विकल्पताम्।(176)।

एक राजधानी में आठ सौ गांव होते हैं, एक द्रोणमुख में चार सौ गांव होते हैं और एक खर्वट में दो सौ गाँव होते हैं। दस गाँवों के बीच जो एक बड़ा भारी गाँव होता है उसे संग्रह (जहाँ पर हरएक वस्तुओं का संग्रह रखा जाता हो) कहते हैं। इसी प्रकार घोष तथा आकार आदि के लक्षणों की कल्पना कर लेनी चाहिए अर्थात् जहाँ पर बहुत घोष (अहीर) रहते हैं, उसे घोष कहते हैं और जहाँ पर सोने चाँदी आदि की खान हुआ करती है, उसे आकर कहते हैं।

पुरां विभागमित्युद्यैः कुर्वन् गीर्वणिनामकः।
तथा पुरन्दर ख्यातिमगादन्वर्थतां गताम्।(177)।

‘इस प्रकार इन्द्र ने बड़े अच्छे ढंग से नगर, गाँवों आदि का विभाग किया था इसलिये वह उसी समय से पुरन्दर इस सार्थक नाम को प्राप्त हुआ था।

ततः प्रजा निवेश्यैषु स्थानेषु स्थृताज्ञया।
जगाम कृतकार्यो गां मधवानुज्ञया प्रभोः।(178)।

तदनन्तर इन्द्र भगवान की आज्ञा से इन नगर, गाँव आदि स्थानों में प्रजा को बसाकर ‘कृतकृत्य होता हुआ प्रभु की आज्ञा लेकर स्वर्ग को चला गया।

सामाजिक व्यवस्था-

यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजारधुर संकरम्।
विवाह जाति संबन्धव्यवहारश्च तन्मतम्।(187)।

उस समय प्रजा अपने-अपने योग्य कर्मों को यथायोग्य रूप से करती थी। अपने वर्ग की निश्चित आजीविका को छोड़कर कोई दूसरी आजीविका नहीं करता था इसलिये उनके कार्य में कभी संकर (मिलावट) नहीं होता था। उनके विवाह, जाति सम्बन्ध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान आदिनाथ की आज्ञानुसार होते थे।

प्रथम आर्य राजा : ऋषभदेव

ऋषभदेव का राज्याभिषेक

कियत्यपि गते काले षट्कर्मविनियोगतः।
यदा सौस्थित्यमायाताः प्रजाः क्षेमेण योजिताः।(191)।

आ. पु. पर्व 16 पृ. 363

तदास्याविरभूद् द्यावापृथिव्योः प्रभवं महत्।
आधिराज्येऽभिषिक्तस्य सुरैरागत्य सत्त्वरम्।(192)।

इस प्रकार जब कितना ही समय व्यतीत हो गया और छह कर्मों की व्यवस्था से जब प्रजा कुशलता पूर्वक सुख से रहने लगी तब देवों ने आकर शीघ्र ही उनका सम्राट पद पर अभिषेक किया। उस समय उसका प्रभाव स्वर्गलोक और पृथ्वी लोक में खूब ही प्रकट हो रहा था।

नृया मूर्द्धभिषिका ये नाभिराजपुरस्सराः।
राजवद्राजसिंहोयमध्यषिच्यत् तैरस्सम्।(224)

नाभिराज को आदि लेकर जो बड़े-बड़े राजा थे उन सभी ने सब राजाओं में श्रेष्ठ यह ऋषभदेव वास्तव में राजा के योग्य है, ऐसा मानकर उनका एक साथ अभिषेक किया था।

सुर्नातमङ्गलान्युद्धे पठत्सु सुरवन्दिषु।
राज्यलक्ष्मीसमुद्भाह स्नानं निर विशद् विभुः।(230)

इस प्रकार जब देवों के बन्दी जन उच्च स्वर से शुभ स्नान सूचक मंगल पाठ पढ़ रहे थे तब भगवान वृषभदेव ने राज्यलक्ष्मी को धारण करने अथवा उसके साथ विवाह करने योग्य स्नान को प्राप्त किया था।

नाभिराजः स्वहस्तेन मौलिमारोपयत् प्रभौः।
महामुकुटबद्धानामधिराङ् भगवानिति।(232)

महा मुकुटबद्ध राजाओं के अधिपति भगवान वृषभदेव ही हैं, यह कहते हुए महाराज नाभिराज ने अपने मस्तक का मुकुट अपने हाथ से उतार कर भगवान के मस्तक पर धारण किया था।

भोगभूमि के समय में भोग भूमिज मनुष्य एवं पशु स्वभावतः अत्यन्त सरल, न्यायप्रिय, नम्र होने के कारण तथा जीवनोपयोगी सामग्री इच्छानुसार पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने के कारण उस समय किसी प्रकार का विशेष अन्याय अत्याचार नहीं होता था। इसीलिये उस समय में प्रत्येक जीव सुखी, स्वावलम्बी एवं स्वयं अनुशासित था। इसीलिए उस समय तक एक अनुशासन कर्ता एवं अनुशासन प्रणाली की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु कर्मभूमि के प्रारम्भ में जीवनोपयोगी सामग्री की कमी होने से तथा स्वभाव में असदाचरण, अन्याय, अत्याचार का प्रवेश होने के कारण अनुशासन कर्ता एवं विशेष अनुशासन पद्धति की आवश्यकता हुई। इसीलिए एक अनुशासन कर्ता (राजा) की नियुक्ति करना अनिवार्य हो गया। अतः विज्ञ जन-गण एवं देवगण मिलकर

सर्वगुण सम्पन्न ऋषभदेव को राजा के रूप में चुनाव किए।

विश्व के भरत खण्ड सम्बन्धी प्रथम राजा ऋषभदेव हुए। ऋषभदेव ने राजा होकर प्रजा की सुख-सुविधाओं के लिए पूर्व संस्कारित ज्ञान विज्ञान अनुभव से एवं तात्कालिक परिस्थिति को लेकर विभिन्न अनुशासन प्रणालियाँ शोध-बोध करके प्रचारित की।

राज पोषाक :-

जगत मात्र के बन्धु भगवान वृषभदेव के ललाट पर पट्टबंध भी रखा जो कि ऐसा मालूम होता था मानों यहाँ वहाँ भागने वाली चंचल राज्य लक्ष्मी को स्थिर करने वाला एक बंधन ही हो।

उस समय भगवान माला पहने हुए थे, उत्तम वस्त्र धारण किये हुए थे, उनके दोनों कानों में कुण्डल सुशोभित हो रहे थे। वे मस्तक पर लक्ष्मी के क्रीड़ा चल के समान मुकुट धारण किये हुए थे, कण्ठ में हार लता और कमर में करधनी पहने हुए थे, जिस प्रकार हिमवान पर्वत गंगा का प्रवाह धारण करता है उसी प्रकार वे भी अपने कंधे पर यज्ञोपवित धारण किये हुए थे।

कटकाङ्गदकेयूरभूषितायतदोर्युगः।

पर्युल्सन्महाशाखः कल्पशाखीय जङ्घमः।(236)

सनीलरत्ननिर्माणनुपुरावुद्धहक्मौ।

निलिन भृङ्ग संफुलरक्ततामर सश्रियौ।(237)

इति प्रत्यङ्ग संगिन्या बभौ भूषणसम्पदा।

भगवानादिमो बह्या भूषणाङ्ग इवाङ्गिष्यः।(238)

उनकी दोनों लम्बी भुजाएं कड़े, बाजुबन्द और अनन्त आदि आभूषणों से विभूषित थी। उन भुजाओं से भगवान ऐसे मालूम होते थे, मानो शोभायमान बड़ी-2 शाखाओं से सहित चलता-फिरता कल्पवृक्ष ही हो। उनके चरण

नीलमणि के बने हुए नूपुरों से सहित थे इसीलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो जिन पर भ्रमर बैठे हुए हैं ऐसे खिले हुए दो लाल कमल ही हों। इस प्रकार प्रत्येक अंग में पहने हुए आभूषण रूपी सम्पदा से आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भूषणांग जाति के कल्पवृक्ष हों।

ऋषभदेव का राज्यानुशासन-

अथाधिराज्यमासाद्य नाभिराजस्य संनिधौ ।
प्रजानां पालने यत्नमकरोदिति विश्वसृट् ॥(241)॥

अथानन्तर कर्मभूमि की रचना करने वाले भगवान् वृषभदेव ने राज्य पाकर महाराज नाभिराज के समीप ही प्रजा का पालन करने के लिए नीचे लिखे अनुसार प्रयत्न किया।

राज्यानुशासन विभाग :-

कृत्वादितः प्रजासर्गं तद् वृत्तिनियमं पुनः ।
स्वधर्मान्तिवृत्त्यैव नियच्छब्रन्वशात् प्रजाः ॥(242)॥

भगवान् ने सबसे पहले प्रजा की सृष्टि (विभाग आदि) की, फिर उसकी आजीविका के नियम बनाये और फिर वे अपनी-अपनी मर्यादा का उल्लंघन न कर सके इस प्रकार के नियम बनाये। इस तरह वे प्रजा का शासन करने लगे।

प्रजा का विभाग:-

क्षत्रिय-

स्वदोभ्या यारयान् शस्त्रं क्षत्रियान्सृजद् विभुः ।
क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाण्याः ॥(243)॥

उस समय भगवान् ने अपनी दोनों भुजाओं में शस्त्र धारण कर क्षत्रियों की सृष्टि की थी, अर्थात् उन्हें शस्त्र विद्या का उपदेश दिया था, सो ठीक

ही है, क्योंकि जो हाथों में हथियार लेकर सबल शत्रुओं के प्रहार से निर्बलों की रक्षा करते हैं वे ही क्षत्रिय कहलाते हैं।

वैश्यः-

ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्रामस्त्राक्षीद् वणिजः प्रभुः ।
जलस्थलादियात्राभिस्तद् वृत्तिर्वर्त्तया यतः ॥(244)॥

तदनन्तर भगवान् ने अपने ऊरुओं से यात्रा दिखलाकर अर्थात् परदेश जाना सिखलाकर वैश्यों की रचना की सो ठीक ही है, क्योंकि जल, स्थल आदि प्रदेशों में यात्रा का व्यापार करना ही उनकी मुख्य आजीविका है।

शुद्रः-

न्यगृतिनियतां शूद्रां पदभ्यामेवासृजत् सुधीः ।
वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥(245)॥

हमेशा नीच (दैन्य) वृति में तत्पर रहने वाले शूद्रों की रचना बुद्धिमान ऋषभदेव ने पैरों से ही की थी, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णों की सेवा सुश्रूषा आदि करना ही अनेक प्रकार की आजीविका है।

ब्राह्मणः-

मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतःस्वक्ष्यति द्विजान् ।
अधीत्यध्यापने दानं प्रतिच्छेज्येति तत्क्रियाः ॥(246)॥

इस प्रकार तीन वर्णों की सृष्टि तो स्वयं भगवान् वृषभदेव ने की थी, उनके बाद भगवान् वृषभदेव के बड़े पुत्र महाराज भरत के मुख से शास्त्र का अध्ययन कराते हुए ब्राह्मणों की रचना करेंगे, स्वयं पढ़ना, दूसरों को पढ़ाना, दान लेना तथा पूजा यज्ञ आदि उनके कार्य होंगे।

आदिनाथ भगवान् जन्मतः अवधि ज्ञान से सम्पन्न थे। भोग भूमि के अवसान के बाद कर्म भूमि का आगमन हुआ। भोगभूमि में व्यक्तिनिष्ठ जीवन

था। कर्मभूमि में समाज निष्ठ जीवन प्रारम्भ हुआ। समाज को सुसंगठित एवं उत्साह सहित सुचारू रूप से परिपालन करने के लिए आदिनाथ भगवान ने अवधिज्ञान से शाश्वतिक कर्मभूमि विदेह की अवस्था को अवगत जान करके विदेह की व्यवस्था के सदृश इस भूखण्ड में भी विदेह की व्यवस्था प्रारम्भ की। उन्होंने गुण, कर्म के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण की स्थापना की। जो दूसरे की रक्षा करते हैं वे क्षत्रिय हुए। जिन्होंने जंघा बल से व्यवसाय आदि कार्य सम्पादन करके समाज की सेवा की वे वैश्य हुए। जिन्होंने समाज उपकारक क्षत्रिय एवं वैश्यों की सुरक्षा के लिये उनकी सेवा की वे शूद्र हुए।

आदिनाथ भगवान् ने सामाजिक, सुसंगठन, परिचालन, एवं लौकिक कर्तव्य को संपादन करके अलौकिक, अध्यात्मिक उन्नति के लिए जब सर्व सन्यास रूप मुनिव्रत को स्वीकार करके आत्मसाधना के माध्यम से जगत् उद्धारक तीर्थकर पदवी को प्राप्त करली थी। उस समय उनके ज्येष्ठ पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत ने गुण, कर्म एवं व्रत सम्पन्न धर्मात्मा व्यक्तियों को ब्राह्मण वर्णरूप में स्थापन किया। जो ब्रह्मा को जानते हैं, धर्मानुकूल आचरण करते हैं, तथा धर्मानुकूल आचरण दूसरों को करवाते हैं वे ब्राह्मण हुए। इसीलिए ब्राह्मण सम्पूर्ण वर्गों में शील स्थानीय मुख्य हुए।

हिन्दु धर्म में रूपक अलङ्कारीय भाषा में इसका प्रतिपादन किया गया है कि, जो ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होता है वह ब्राह्मण, जो ऊरुओं से उत्पन्न होता है वह वैश्य और जो पैरों से उत्पन्न होता है वह शूद्र है। यह वर्ण व्यवस्था सामाजिक सुव्यवस्था के लिए गुण, कर्म व्यवसाय के लिए अनुकूल करना हितकर एवं अनिवार्य है।

स्वामिमां वृत्तिमुक्तम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत्।
स पार्थिवैर्णियन्तव्यो वर्णसंकीर्णिर्न्यथा ॥(248)॥

उस समय भगवान ने यह भी नियम प्रचलित किया था कि जो कोई अपने वर्ण की निश्चित आजीविका छोड़कर दूसरे वर्ण की आजीविका करेगा

वह राजा के द्वारा दण्डित किया जाएगा क्योंकि ऐसा न करने से वर्ण संकीर्णता हो जायेगी अर्थात् सब वर्ण एक हो जायेंगे उनका विभाग नहीं हो सकेगा।

कर्मभूमि का कारण-

कृष्णादिकर्मषट्कं च सदा प्रागेव सृष्टवान्।
कर्मभूमिरियं तरमात् तदासीत्तद्व्यवस्थया ॥(249)॥

भगवान आदिनाथ के द्वारा विवाह आदि की व्यवस्था करने के पहले ही असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य इन छह कर्मों की व्यवस्था होने से यह कर्मभूमि कहलाने लगी थी। भोगभूमि के समय में पूर्वोपार्जित पूण्य कर्म के उदय से कल्पवृक्ष से सहज प्राप्त जीवनोपयोगी सामग्री अर्जन करने के लिए कोई प्रकार की आवश्यकता नहीं थी, परन्तु भोगभूमि के अवसान के बाद कर्मभूमि के प्रादुर्भाव से कल्पवृक्ष विलीन होने के कारण जीवनोपयोगी सामग्रियों की उपलब्धि न होने के कारण प्रजाओं को अनेक कष्टमयी परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। उस कष्टमयी परिस्थितियों से प्रजाओं की सुरक्षा के लिए कुछ प्रणालियाँ प्रजाओं को सिखाएँ थे। इस असि, मसि आदि कर्म के कारण इस युग को कर्मयुग एवं इस भूमि को कर्मभूमि कहने लगे।

दण्डनीति-

सृष्टेति ताः प्रजाः सृष्ट्वा तद्योगक्षेमसाधनम्।
प्रायुद्धक्त युक्तितो दण्डं हामाधिकारलक्षणम् ॥(250)॥

इस प्रकार ब्रह्मा आदिनाथ ने प्रजा का विभाग कर अनेक भोग (नवीन वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा) की व्यवस्था की। रक्षा के लिए युक्ति पूर्वक हा, मा और धिक्कार इन तीन दण्डों की व्यवस्था की थी।

दुष्टानां निग्रहः शिष्ट प्रतिपालनमित्ययम्।
न पुरासीक्षमो यस्मात् प्रजाः सर्वा निरागसः ॥(251)॥

दुष्ट पुरुषों का निग्रह करना अर्थात् उन्हे दण्ड देना और सज्जन पुरुषों का पालन करना यह क्रम कर्मभूमि से पहले अर्थात् भोगभूमि में नहीं था क्योंकि उस समय पुरुष निरपराध होते थे। किसी प्रकार का अपराध नहीं करते थे।

दण्डनीति की उचितता-

प्रजा दण्डधराभावे मात्स्यं न्यायं श्रयन्त्यमृः।
ग्रस्यतेऽन्तः प्रदुष्टेन निर्बलो हि बलीयसा।(252)।

कर्मभूमि में दण्ड देने वाले राजा का अभाव होने पर प्रजा मात्स्य-न्याय का आश्रय करने लगेगी अर्थात् जिस प्रकार बलवान मच्छ छोटे मच्छों को खा जाते हैं उसी प्रकार दुष्ट बलवान पुरुष, निर्बल पुरुष को निगल जाएगा।

दण्डभीत्या हि लोकोऽयमपथं नानुधावति।
युक्तदण्ड धरस्तरमात् पार्थिवः पृथिवीं जयेत्।(253)।

यह लोग दण्ड के भय से कुमार्ग की ओर नहीं दौड़ेंगे इसलिए दण्ड देने वाले राजा का होना उचित ही है और ऐसा राजा ही पृथिवी को जीत सकता है।

भोग भूमिज मानव स्वभावतः सरल स्वभावी, निरपराधी, नीतिवान होने के कारण वे लोग स्वभावतः ही अनीति, अन्याय, दुराचार, शोषण आदि नहीं करते थे इसलिये भोगभूमि में दण्डनीति की कोई प्रकार की आवश्यकता एवं उचितता नहीं थी किन्तु कर्मभूमिज मानव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से प्रेरित होकर अन्याय, अत्याचार, दुराचार तथा अनैतिक कार्य करने लगे। शक्तिशाली मनुष्य दुर्बलों को पीड़ित करने लगे, जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को पीड़ा देती है तथा खा जाती है। इस अनैतिक उपक्रम को रोकने के लिये एक नीति पूर्ण व्यवस्था वृषभदेव ने विशेष रूप से प्रारम्भ की थी, जिसको दण्डनीति कहते हैं। आचार्य गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में स्पष्ट रूप से दण्डनीति की आवश्यकता स्वीकार करते हुए कहते हैं कि- “कलौ

‘दण्डोनीतिः’ कलिकाल की नीति दण्डनीति है और वह दण्डनीति राजाओं के द्वारा प्रचारित, प्रसारित एवं पोषित होती है। योग्य दण्डनीति के अभाव से दुष्ट दुर्जन दोषी जन अधिक ही अन्याय, अत्याचार में प्रवृत्ति करते हैं इसीलिए जिस प्रकार रोगी को निरोगी करने के लिए योग्य वैद्य रोगी को कड़वी औषधि देता है, अपथ्य सेवन से दूर रखता है तथा शल्य चिकित्सा भी करता है इससे भले तात्कालिक रोगी को क्षणिक दुःख-कष्ट हो तो भी आगामी काल में रोगी को अधिक सुख की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार योग्य नीति से दोषी को दण्ड देने पर उसको तात्कालिक कष्ट हो सकता है किन्तु भविष्यत् में दोषी व प्रजा को अधिक सुख सुविधा प्राप्त होती है।

वर्तमान काल में शारीरिक दण्ड कम करके उसकी (दोषी की) मानसिक - विचार धारा को परिवर्तन करके निर्दोषी बनाने के लिए देश-विदेश में मनोवैज्ञानिक पद्धति से दण्ड का प्रयोग किया जा रहा है यह एक उत्तम रीति है। परन्तु कुछ उचाधिकारी, न्यायालय के कर्मचारी वर्ग, वकील एवं न्यायाधीस रिश्वत लेकर न्यायी को अन्यायी एवम् अन्यायी को न्यायी सिद्ध करते हैं तथा योग्य दण्ड न मिलने के कारण देश-विदेश में अन्याय व अत्याचार दिनों दिन वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। एवं दोषी को योग्य रीति से दण्ड देने पर अन्य लोग दोष करने से भयभीत होते हैं जिससे वे दोष नहीं करते हैं तथा दोषी का दोष दूर होता है। इससे समाज, देश, राष्ट्र में शान्ति का साम्राज्य विस्तारित होता है।

कर व्यवस्था-

पर्यस्तिन्या यथा क्षीरमद्रोहेणोपजीव्यते।
प्रजाप्येवं धनं दोह्या नातिपीडाकरैः करैः।(254)।

जिस प्रकार दूध देने वाली गाय से उसे बिना किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाये दूध दुहा जाता है और ऐसा करने से वह गाय भी सुखी रहती है तथा दूध दुहने वाले की आजीविका भी चलती रहती है उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से धन वसूल करना चाहिए। वह धन अधिक पीड़ा न देने

वाले करों (टैक्सों) से वसूल किया जा सकता है। ऐसा करने से प्रजा भी दुःखी नहीं होती और राज्य - व्यवस्था के लिए योग्य धन भी सरलता से मिल जाता है।

प्रशासन चलाने के लिए अर्थ की भी आवश्यकता होती है। देश के नवनिर्माण, जलसिंचन, व्यवस्था दुष्काल से पीड़ित प्रजा की सहायता, वैदेशिक, आक्रमण से देश की सुरक्षा आदि के लिए अर्थ की नितान्त आवश्यकता होती है। कभी-कभी आपातकालीन परिस्थिति में हठात् अधिक अर्थ की आवश्यकता भी हो जाती है इन सब परिस्थितियों के लिए अर्थसंचय राजकोष में नितान्त अनिवार्य है। इसलिये न्यायवत् प्रजापालक राजा ; प्रजा को बिना कष्ट दिए उनसे कुछ अर्थ स्वीकार करता है। जिसको कर कहा जाता है। करों से संचित धन राजा स्वर्स्वार्थ के लिये खर्च न करता हुआ प्रजा के हित के लिए व्यय करता है। प्रजा के हित के लिए प्रजा से न्याय नीति से प्राप्त धन को कर कहा जाता है। प्रजा से अनीति पूर्ण अधिक कर लेना प्रजा का रक्त शोषण है। राजस्व से राजा का स्वर्स्वार्थ के लिए व्यय करना राजनीति एवं धर्मनीति के विरुद्ध है। इसीलिए जो राजा राजस्व को हरण करता है वह भी दण्डनीय है। योग्य कर देना प्रजा का कर्तव्य है। योग्य कर नहीं देने वाली प्रजा भी राजनीति एवं धर्मनीति से विरुद्ध कार्य करने के कारण दण्डनीय है।

राज्य विभाग :-

ततो दण्डधरानेता ननुमेने नृपान् प्रभुः।
तदायत्तं हि लोकस्य योगक्षेमानुचिन्तनम्।(255)

इसीलिये भगवान् वृषभदेव ने नीचे लिखे हुए पुरुषों को दण्डधर (प्रजा को दण्ड देने वाला) राजा बनाया जो ठीक ही है क्योंकि प्रजा के योग और क्षेम का विचार करना उन राजाओं के ही अधीन होता है।

(1) महामण्डलीक राजा की नियुक्ति :-

समाहूय महाभागान् हर्यकम्पनकाश्यपान्।
सोमप्रभं च संमान्य सत्कृत्य च यथोचितम्।(256)

कृतभिषेचनानेतान् महामण्डलिकान् नृपान्।
चतुःसहस्रभूनाथपरिवारान् व्यधाद् विभुः।(257)

भगवान् ने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ इन चार महाभाग्यशाली क्षत्रियों को बुलाकर उनका यथोचित सम्मान और सत्कार किया। तदनन्तर राज्याभिषेक कर उन्हें महामण्डलीक राजा बनाया। ये राजा चार हजार अन्य छोटे राजाओं के अधिपति थे।

(2) कुरुवंश का प्रथम राजा :-

सोमप्रभःप्रभोरासकुरुराजसमाह्यः।
कुरुणामधिराजोऽभूत् कुरुवंश शिखामणिः।(258)

सोमप्रभ भगवान् से कुरुराजा नाम पाकर कुरुदेश का राजा हुआ और कुरु वंश का शिखामणि कहलाया।

(3) हरिवंश का प्रथम राजा :-

हरिश्च हरिकान्ताख्यां दधानस्तदनुज्ञया।
हरिवंशमलंचक्रे श्रीमान् हरिपराक्रमः।(259)

हरि, भगवान् की आज्ञा से हरिकान्त नाम को धारण करता हुआ हरिवंश को अलंकृत करने लगा क्योंकि वह श्रीमान् हरिपराक्रम अर्थात् इन्द्र अथवा सिंह के समान पराक्रमी था।

(4) नाथ वंश का प्रथम राजा:-

अकम्पनोऽपि सृष्टिशात् प्राप्तश्रीधरनामकः ।
नाथवंशस्य नेताभूत् प्रसन्ने भुवनेशिनि ॥(260)॥

अकम्पन भी भगवान से श्रीधर नाम पाकर उनकी प्रसन्नता से नाथवंश का नायक हुआ।

(5) उग्रवंश का प्रथम राजा :-

काश्यपोऽपि गुरोः प्राप्तमाधवाख्यः पतिर्विशाम् ।
उग्रवंशस्य वंश्योऽभूत् किन्नाप्यं स्वामिसम्पदा ॥(261)॥

और कश्यप भी जगदगुरु भगवान से मधवा नाम प्राप्त कर उग्रवंश का मुख्य राजा हुआ सो ठीक ही है स्वामी की सम्पदा से क्या नहीं मिलता अर्थात् सब कुछ मिलता है।

आधिराज नियुक्ति :-

तदा कच्छमहाकच्छप्रभुखानपि भूमुजः ।
सोऽधिराजपदे देवः स्थापयामास सत्कृतान् ॥(262)॥

तदनन्तर भगवान् आदिनाथ ने कच्छ महाकच्छ आदि प्रमुख-प्रमुख राजाओं का सत्कार कर उन्हें अधिराज के पद पर स्थापित किया।

प्रशासन की सुव्यवस्था के लिए बड़े राष्ट्र को अनेक उपविभाग में विभक्त करके उस विभाग का अनुशासन करने के लिए यथायोग्य महामण्डलीक, अधिराज नियुक्त किये। जिस प्रकार वर्तमान काल में देश को अनेक प्रदेश एवं प्रदेश को अनेक जिला में विभक्त किया जाता है।

पहले एक ही क्षत्रियवंश था। परन्तु ऋषभदेव के समय में विभिन्न राज्यों में राज्यशासन करने वाले प्रधान राजाओं के नाम पर विभिन्न क्षत्रिय वंशों का शुभारम्भ हुआ।

पुत्रों की व्यवस्था:-

पुत्रानपि तथा योग्यं वरत्तुवाहनसंपदा ।
भगवान् संविधत्ते स्म तद्वि राज्योद्भने फलम् ॥(263)॥

इसी प्रकार भगवान ने अपने पुत्रों के लिए भी यथायोग्य रूप से महल, सवारी तथा अनेक प्रकार की सम्पत्ति का विभाग कर दिया था। सो ठीक ही है क्योंकि पुत्र पिता का उत्तराधिकारी है। जिस प्रकार पुत्र का परम कर्तव्य पिता की सेवा करना है उसी प्रकार पुत्र को भी योग्य अधिकार देना पिता का कर्तव्य हो जाता है।

नीतिकारों ने कहा है-

पालयेत् पंचवर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत् ।
प्राप्तेषु षोडशवर्षे, पुत्रं मित्रमिवा चरेत् ॥

पुत्र को पाँच वर्ष तक पालन करना चाहिए, दस वर्ष तक सुयोग्य बनाने के लिए योग्य शिक्षा-दीक्षा के लिए ताड़न करना चाहिए तथा पुत्र को सोलह वर्ष का होने के पश्चात् मित्र के समान आचरण करना चाहिए। योग्य अवसर पर यदि पुत्र को योग्य अधिकार नहीं दिया जाता है तो पुत्र भी पिता के प्रति योग्य कर्तव्य परायण नहीं होता है। इसलिए ऋषभदेव ने योग्य काल देखकर उनकी भी योग्य व्यवस्था की थी।

वर्तमान काल में कुछ पिताओं द्वारा योग्य पुत्र को वृद्धावस्था में भी योग्य अधिकार नहीं देने के कारण आधुनिक पुत्र भी पिताओं को योग्य आदर सत्कार सम्मान नहीं देते हैं। जैन कानून में वर्णित है कि, विवाहित योग्य पुत्रों को योग्य पैत्रिक - सम्पत्ति देकर अपने पैर पर खड़े होने के लिए उनकों स्वतन्त्र कर देना चाहिए जिससे पुत्र जीवन में स्वावलम्बी होकर स्वतन्त्र सुखमय जीवन-यापन कर सके। योग्य काल में उपरोक्त कार्य सम्पादन करने से पिता, पुत्र में स्नेह, सौहार्द एवं संगठन रहता है। वर्तमान काल में कुछ पिताओं द्वारा पुत्रों को उपरोक्त अधिकार नहीं देने से पुत्र भी विवाह के अनन्तर

कलह करके अलग हो जाते हैं जिससे परिवार में स्नेह, सौहाद्र, संगठन नहीं रहता है। यदि स्वयं पुत्र उपरोक्त अधिकार नहीं चाहता है तो अलग बात है।

इक्षु रस आविष्कारकः-

आकनाद्य तदेक्षूणां रससंग्रहणे नृणाम्।
इक्ष्वाकुरित्यभूद् देवो जगतामभिसंमतः ॥(264)॥
आ०पु.पृ.31भाग 1

उस समय भगवान् ने मनुष्यों को इक्षु का रस संग्रह करने का उपदेश दिया था। इसलिए जगत् के लोग उन्हें इक्ष्वाकु कहने लगे।

भोगभूमि के काल में समस्त खाद्य सामग्री कल्पवृक्षों से प्राप्त होती है, परन्तु आदिनाथ के समय तक कल्पवृक्ष से यथेष्ट खाद्य सामग्री प्राप्त होना दुर्लभ हो गया था। उस समय स्वयं उत्पन्न रस भरित इक्षुदण्ड से रस निकालकर उस रस के प्रयोग का ऋषभदेव ने प्रजा को प्रशिक्षण दिया था इसलिए जगत् के लोगों ने ऋषभदेव को इक्ष्वाकु नाम से सम्बोधित किया। इसलिए ऋषभदेव भगवान का वंश इक्ष्वाकु क्षत्रिय वंश है।

यावती जगती वृत्तिरपापोपहता च या।
सा सर्वास्य मतेनासीत् स हि धाता सनातनः ॥(188)॥

उस समय संसार में जितने पापरहित अजीविका के उपाय थे वे सब भगवान ऋषभदेव की सम्मति में प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि सनातन ब्रह्मा भगवान ऋषभदेव ही हैं।

युग निर्माता आदि ब्रह्मा :-

युगादि ब्रह्मणा तेन यदित्थं स कृतो युगः।
ततः कृत युगं नाम्ना तं पुराण विदो विदुः ॥(189)॥

चूंकि युग के आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेव ने इस प्रकार कर्म युग का

प्रारम्भ किया था। इसलिए पुराण के जानने वाले उन्हें कृतयुग नाम से जानते हैं।

कर्म युग प्रारंभ :-

युगादि ब्रह्मणा तेन यदित्थं स कृतो युगः ।

ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः ॥(189)॥

आषाढमासबहुलप्रतिपद्धिवसे कृति ।

कृत्वा कृतयुगारम्भं प्राजापत्यमुपेयिवान् ॥(190)॥

कृतकृत्य भगवान ऋषभदेव आषाढ मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन कृतयुग का प्रारंभ करके प्राजापत्य (प्रजापतिपने) को प्राप्त हुए थे अर्थात् प्रजापति कहलाने लगे।

वस्तुतः विश्व अनादि अकृत्रिम होने के कारण इसका कर्ता, धर्ता, हर्ता कोई नहीं है, परन्तु भोगभूमि के उपरान्त आदिनाथ भगवान् कर्मभूमि सम्बन्धी समस्त व्यवस्था जन - हित के लिए प्रचार-प्रसार करने के कारण आदिनाथ ही व्यवहारन्य अपेक्षा आदि ब्रह्मा प्रजापति युग निर्माता कहलाये।

आषाढ मास के कृष्ण पक्ष प्रतिपदा के दिन ऋषभदेव ने कृतयुग (कर्मयुग) प्रारम्भ किया था। इसलिए इस दिन को युगादि दिवस (वर्षारम्भ) कहते हैं।

विधाता विश्वकर्मा च सृष्टा चेत्यादिनामभिः।

प्रजास्तं व्याहरन्ति स्म जगतां पतिमच्युतम् ॥(267)॥

इनके सिवाय तीनों जगत् के स्वामी और विनाश रहित भगवान को प्रजा 'विधाता' 'विश्वकर्मा' और 'सृष्टा' आदि अनेक नामों से पुकारती थी।

गौः स्वर्गः स प्रकृष्टात्मा गौतमोऽभिमतः सताम्।

स तस्मादागतो देवो गौतम श्रुतिमन्चभूत् ॥(265)॥

‘‘गौ’’ शब्द का अर्थ स्वर्ग है, जो उत्तम स्वर्ग हो उसे सज्जन पुरुष गौतम कहते हैं। भगवान् ऋषभदेव रचगों में सबसे उत्तम सर्वार्थसिद्धि से आये थे इसलिये वे ‘गौतम’ इस नाम को प्राप्त हुए थे।

काश्यमित्युत्यते तेजः काश्यपस्तर्य पालनात्।
जीवनोपायमननान् मनुः कुलधरोऽप्यसौ॥(266)॥

भगवान् वृषभदेव उस तेज के रक्षक थे इसलिए ‘काश्यप’ कहलाते हैं। उन्होंने प्रजा की आजीविका के उपायों का भी मनन किया था इसलिए वे मनु और कुलकर भी कहलाते थे।

राज्यकाल-

त्रिषष्ठि लक्षाः पुर्वाणां राज्यकालोऽस्य संमितः।
स तर्य पुत्रपौत्रादिवृतस्याविदितोऽगमत्॥(268)॥

भगवान् का राज्यकाल 63 लाख पूर्व नियमित था सो उनका वह भारी काल पुत्र, पौत्रों आदि के सुख का अनुभव करते हुये उन्हें इस बात का पता ही नहीं चला कि मुझे राज्य करते हुए कितना समय (काल) हो गया है।

स सिंहासनमायोध्यमध्यासीनो महाद्युतिः।
सुखादुपनतां पुण्यैः साम्राज्यश्रियमन्वभूतः॥(269)॥

महादैदीप्यमान भगवान् ऋषभदेव ने अयोध्या के राज्य सिंहासन पर आसीन होकर पुण्योदय से प्राप्त हुई साम्राज्य लक्ष्मी का सुख से अनुभव किया था।

इत्थंसुरासुरगुरुर्गुरु पुण्य योगाद्।
भोगान् वितन्वति तदा सुरलोकनाथे॥

सौख्यैरगाद् धृतिमचिन्त्यधृतिः स धीरः।
पुण्योर्जने कुरुत यत्नमतो बुधेन्द्राः॥(270)॥

इस प्रकार सुर और असुरों के गुरु तथा अचिन्त्य धैर्य के धारण करने वाले भगवान् ऋषभदेव को इन्द्र उनके विशाल पुण्य के संयोग से भोगोपभोग की सामग्री भेजता रहता था, जिससे वे सुखपूर्वक संतोष को प्राप्त होते रहते थे। इसलिये हे पण्डित जन ! पुण्योपार्जन करने में प्रयत्न करो।

स श्रीमानिति नित्यभोगनिरतः पुत्रैश्च पौत्रैर्निजे।
रारुढप्रणयैरुपा हितधृतिः सिंहासनाध्यासितः॥
शक्रार्केन्दुपुररसरैः सुरवरैर्वृ ढोलसच्छासनः।
शास्ति स्माप्रतिशासनो भुवमिमामासिन्धुसीमां जिनः॥(275)॥

इस प्रकार जो प्रशस्त लक्ष्मी के रवामी थे, रिथर रहने वाले भोरों का अनुभव करते थे, स्नेह रखने वाले अपने पुत्र पौत्रों के साथ संतोष धारण करते थे। इन्द्र सूर्य और चन्द्रमा आदि उत्तम-उत्तम देव जिनकी आज्ञा पालन करते थे और जिन पर किसी की आज्ञा नहीं चलती थी ऐसे भगवान् ऋषभदेव सिंहासन पर आरुढ होकर इस समुद्रान्त पृथ्वी पर शासन करते थे।

**‘अभीक्षण - ज्ञानोपयोगी, सिद्धांत चक्रवर्ती,
उपाध्याय श्री कनकनन्दी जी द्वारा रचित ग्रन्थ’**

आपको जानकर हर्ष होगा कि, जैन धर्म की वैज्ञानिकता, दार्शनिकता एवं तत्त्वज्ञता से सभी वर्गों के परिचय हेतु ‘धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन’ कार्यरत है। वर्तमान वैज्ञानिक युग की पीढ़ी बुद्धिजीवी वर्ग एवं जैन-जैनेतर बन्धुओं की मानसिकता को दृष्टिगत कर रखी गई सभी पुस्तकें आपको स्वयं अपने अन्तर्मन में उमड़ते प्रश्नों का ही उत्तर प्रतीत होगी।

उपाध्याय कनकनन्दी जी की लेखनी से भूगोल, विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, राजनीति, रसायन - विज्ञान, खगोल, यंत्र, मंत्र, तंत्र, आयुर्वेद, मनोविज्ञान, ऋद्धि, सिद्धि, स्वप्न - विज्ञान, ध्यान - योग, इतिहासादि सभी को विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया गया है।

विषय

मूल्य

1. धर्म विज्ञान बिन्दु	15.00
2. धर्म ज्ञान एवं विज्ञान	15.00
3. भाग्य एवं पुरुषार्थ	10.00
4. Fate and Efforts	15.00
5. व्यसन का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण	20.00
6. Nakedness of Digamber Jain Saints and Kesh Lonch	5.00
7. पुण्य - पाप मीमांसा	15.00
8. जिनार्चना पुष्य 1 एवं 2 प्रति भाग	21.00
9. धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान पुष्य 1 एवं 2 प्रति भाग	20.00
10. निमित्त उपादान मीमांसा	7.00
11. धर्म दर्शन एवं विज्ञान	21.00
12. क्रांति के अग्रदृत	10.00
13. लेश्या - मनोविज्ञान	6.00
14. ऋषभ पुत्र भरत से भारत	10.00

15. ध्यान का एक वैज्ञानिक विश्लेषण	15.00
16. अनेकान्त दर्शन	20.00
17. कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन	25.00
18. युग - निर्माता ऋषभदेव	15.00
19. विश्व शान्ति के अमोघ उपाय	10.00
20. अहिंसामृतम्	7.00
21. मनन एवं प्रवचन	5.00
22. विनय मोक्षद्वार	5.00
23. क्षमा वीरस्य भूषणं	15.00
24. संगठन के सूत्र	10.00
25. अतिमानवीय शक्ति	21.00
26. मंत्र विज्ञान	10.00
27. Philosophy of Scientific Religion	15.00
28. दिगम्बर जैन साधु का नग्नत्व एवं केशलोंच (हिन्दी, मराठी, व गुजराती) प्रति पुस्तक	5.00
29. भगवान् महावीर और उनका दिव्य - संदेश	5.00
30. धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पुष्य 1	15.00
31. संस्कार (हिन्दी)	5.00
32. विश्व विज्ञान रहस्य	100.00
33. Religions and scientific analysis of Vyasan	20.00
34. स्वप्न विज्ञान	30.00
35. त्रैलोक्यपूज्य ब्रह्मचर्य	12.00
36. आत्मोत्थानोपायः तप	9.00
37. तत्वानुचिन्तन	15.00
38. विश्व - इतिहास	25.00
39. शकुन - विज्ञान	30.00
40. संस्कार (सचित्र)	7.00
41. कथा सुमन मलिका	15.00

42. 72 कलायें	5.00
43. हिंसामय यज्ञ का प्रारम्भ क्यों	7.00
44. कथा - सौरभ	21.00
45. कथा - पारिजात	15.00
46. धर्म प्रवर्तक चौबीसों तीर्थकर	5.00
47. जीने की कला	7.00
48. संस्कार (वृहत्)	30.00
49. स्वतंत्रता के सूत्र	71.00
50. कथा - पुष्पांजलि	15.00
51. धार्मिक कुरुतियों का परिशोधन	7.00
52. सत्य धर्म	5.00
53. धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पुण्य 2	10.00
54. उ. कनकनन्दी की हाटि में शिक्षा	11.00
55. अयोध्या का पौराणिक ऐतिहासिक एवं राजनैतिक विश्लेषण ..	11.00
56. गुरु अर्चना	3.00
57. The maker of the age, Rishab Deva	25.00
58. दंसणमूलो धम्मो तहा संसारमूलहेदु मिछ्त	15.00
59. धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पुण्य 3	10.00
60. संस्कार (अंग्रेजी)	5.00
61. श्रमण संघ संहिता	30.00
62. Sculptor of The Age "Rishabhadev"	101.00
63. पाश्वर्नाथ का तपोपसर्ग कैवल्य धामः बिजौलिया	5.00
64. ये कैसे धर्मात्मा - निर्व्यसनी - राष्ट्रसेवी...?	11.00
65. भारतीय आर्यः कौन - कहां से - कब से - कैसे?	25.00
66. विश्व - धर्म सभाः समोशरण	21.00
67. "बन्धु बंधन के मूल"	41.00
68. विश्व द्रव्य विज्ञान (द्रव्य संग्रह)	

